साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में दलित जीवन

DALIT LIFE IN POST SIXTY HINDI NOVELS

THESIS
SUBMITTED TO
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
FOR THE DEGREE OF

DOCTOR OF PHILOSOPHY

BY

राजेन्द्रन पटिन्जारे करम्मल

RAJENDRAN PATINHARE KARAMMAL

Dr. M. EASWARI
(Professor & Head)
Department of Hindi

Dr. N. MOHANAN
(Professor)
Supervising Teacher

DEPARTMENT OF HINDI
COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY
COCHIN - 682 022
1999

CERTIFICATE

This is to certify that this ***Thesis*** *is a bonafide record of work carried out by* ***Sri. Rajendran Patinhare Karammal****, under my supervision for Ph.D (Doctor of Philosophy) degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.*

DR. N. MOHANAN
(Supervising Teacher)
Professor
Dept. of Hindi
Cochin University of
Science & Technology
Kochi-682 022

Kochi-682 022
13.11.1999

DECLARATION

I here by decalre that the work presented in this thesis is based on the original work done by me under the guidance of ***Dr. N. Mohanan****, Professor, Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin - 682 022 and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any University.*

Rajendran Patinhare Karammal

Department of Hindi,
Cochin University of Science and Technology,
Cochin - 682 022

भूमिका

भू मि का

रचना दर असल रचनाकार की आन्तरिक विवशता का परिणाम है । उनकी यह विवशता मनुष्य को मनुष्य के रूप में जीने के अधिकार के लिए किए जानेवाले संघर्षों से उद्‌भूत है । वे मानव-जीवन-यथार्थ के बहुआयामी संदर्भों का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हुए जन चित्त को सुसंस्कृत करने तथा उनसे सार्थक संवाद करने का प्रयत्न करते हैं । इसलिए साहित्य एक ओर मानव जीवन के चरित्र का चित्र है, तो दूसरी ओर रचनाकार और पाठक के बीच का सार्थक संवाद है ।

आदिकाव्य से लेकर अब तक की रचनाएँ इसका साक्ष्य हैं कि रचना का मकसद जनता का उद्धार, परिष्कार एवं सुधार ही हैं । "मा निषादा" इस महान उद्देश्य से उद्‌भूत कथन है ।

सदियों पहले ही प्रतिभा के धनी रचनाकारों ने रचना को अपने साध्य के लिए सशक्त साधन पहचान लिया था । उन्होंने इसको जन मुक्ति का अस्त्र बनाया है, क्योंकि तब भी समाज में ऐसे दल अपनी पूरी प्रभुता के साथ विराजमान थे, जिनका उद्देश्य जनता का आत्यंतिक शोषण ही था, जो अब भी आधुनिक रूप-भाव को लेकर वर्तमान भी है । इस शोषक-शक्ति से जनसाधारण को परिचित कराना तथा उनकी अपनी वास्तविक हैसियत के लिए संघर्ष के मार्ग पर अग्रसर कराना रचनाकारों ने अपना असली धर्म समझा । इसका परिणाम है -दलित-जीवन साहित्य । याने कि समाज के पीडित, उपेक्षित एवं शोषित जनसाधारण के प्रति, मानवीय संवेदना से युक्त साहित्य । वही दलित साहित्य है ।

दलित साहित्य नामक जो आन्दोलन हुआ है, वह जाति-चिंतन के संकुचित दायरे से उद्भूत है, और उस मानसिकता को बढावा देनेवाला भी है । यह चिंतन किसी भी संदर्भ में शोभाजनक नहीं है । इसलिए जन-साधारण को मानवोचित जीवन जीने के अधिकार को लक्ष्य करके लिखा गया साहित्य ही दलित-जीवन साहित्य है । दलित साहित्य को लेकर कुछ भ्रांतियाँ अवश्य फैल गई हैं । उन भ्रांतियों से मुक्त करके इसके सही अर्थ एवं उद्देश्य को स्पष्ट करना तथा सच्चे साहित्य के स्वस्थ चिन्तन से परिचित कराना ही वास्तव में मेरे इस अध्ययन का लक्ष्य है । अत: मैं ने इस शोध का विषय रखा - "साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में दलित जीवन" । इसके छ: अध्याय हैं ।

पहला अध्याय है, "दलित साहित्य का भारतीय परिप्रेक्ष्य" । प्रस्तुत अध्याय में दलित की परिभाषा, दलित साहित्य का उद्‌भव और विकास, हिन्दी में दलित साहित्य-सृजन की शुरूआत एवं पल्लवन, विदेशी दलित साहित्य का प्रभाव, हिन्दी के दलित जीवन-साहित्य को ऐतिहासिक निरंतरता एवं दृष्टिकोण की खासियत जैसी बातों पर विस्तृत चर्चा की गई है ।

"हिन्दी उपन्यासों में दलित जीवन" शीर्षक दूसरे अध्याय में दलित जीवन की अभिव्यक्ति की दृष्टि से साठ तक के हिन्दी उपन्यासों का अध्ययन एवं विश्लेषण किया गया है ।

तीसरा अध्याय है "दलित जीवन और सत्ता" । इस अध्याय में दलितों की वर्तमान स्थिति में सत्ता और उसकी भूमिका को साठोत्तर उपन्यासों के संदर्भ में विश्लेषित करने का कार्य किया गया है ।

शोध प्रबन्ध का चौथा अध्याय है -"दलित जीवन और धर्म" । भारत में धर्म का महत्व निर्विवाद का है । दलितों की सृष्टि में तथा उनको दलित ही बनाए रखने में धर्म की भूमिका क्या है ? इस तथ्य को साठोत्तर उपन्यासों के माध्यम से तलाशने का कार्य इस अध्याय में किया गया है ।

"दलित जीवन और राजनीति" शीर्षक पाँचवें अध्याय में दलित जनता के साथ राजनीतिक दलों के व्यवहारों का अध्ययन है । साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में चित्रित दलित जीवन के आधार पर इस पहलू को विश्लेषित करने का प्रयत्न किया गया है ।

शोध प्रबन्ध का छठा अध्याय "दलित जीवन का समाजशास्त्र" है । यहाँ उन तत्वों को विश्लेषित करने का कार्य किया गया है, जिनके कारण बहुसंख्यक जनता दलित बन गयी है । साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में इन तत्वों का सही प्रतिपादन हुआ है । उन तत्वों को अनावृत करने का कार्य यहाँ किया गया है ।

प्रस्तुत शोधकार्य के विषय-चयन से लेकर उसकी परिसमाप्ति तक सही मार्गनिर्देशन से डॉ. मोहनजी मुझे अनुप्राणित करते रहे हैं । आप के इस पथ प्रदर्शन के बिना मेरे इस शोध कार्य को संपूर्ति संदिग्ध ही रह जाती । उनके प्रति मैं हमेशा आभारी रहूँगा ।

आदरणीय डॉ. अरविन्दाक्षनजी के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करना चाहता हूँ कि जिन्होंने हमेशा तहे दिल से मेरी सहायता की है, प्रेरणा दी है तथा समय समय पर आवश्यक सलाह दी है ।

विभागाध्यक्ष डॉ. ईश्वरीजी के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ कि वे हमेशा मुझे प्रेरणा देती रही हैं ।

डॉ. शमीम अलियार तथा डॉ. षण्मुखनजी के प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ, जो समय-समय पर मुझे इस शोध-कार्य में प्रेरणा देते रहे हैं ।

मेरे उन सभी समादरणीय गुरूजनों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने मुझे इस शोध कार्य के लिए काबिल बनाया हैं । साथ ही उन सभी मित्रों, परिचितों एवं परिजनों के प्रति भी आभारी हूँ, जिन्होंने मुझे अपने सद्वचनों से प्रोत्साहित किया है ।

आखिर हिन्दी विभाग के कार्यालय एवं पुस्तकालय के मेरे प्रिय बन्धुजनों के प्रति भी मैं अपना आभार प्रकट करता हूँ, जिन्होंने हमेशा तहे दिल से इस शोध कार्य की संपूर्ति में मेरा साथ दिया है ।

इस शोध प्रबन्ध के निर्वाह में कमियों तथा त्रुटियों का आना सहज है । इन त्रुटियों को दूर करने की भरसक कोशिश मैं ने की है । इसके बावजूद कोई कमी या त्रुटि इसमें रहे हैं तो मैं उसके लिए क्षमा प्रार्थी हूँ ।

राजेन्द्रन पटिन्जारे करमेल

हिन्दी विभाग
कोचिन विज्ञान व प्राद्योगिकी
विश्वविद्यालय
कोचिन - 682022.
तारीख १४-११-९५

विषय - सूची

पृष्ठ संख्या

भूमिका — I - V

पहला अध्याय — 11 - 36

दलित साहित्य का भारतीय परिप्रेक्ष्य

दलित कौन ?

दलित साहित्य

पाश्चात्य प्रभाव

दलित-लेखन - कुछ नये प्रश्न

मराठी दलित साहित्य

हिन्दी साहित्य में दलित विचार

निष्कर्ष ।

दूसरा अध्याय — 37 - 67

हिन्दी उपन्यासों में दलित जीवन

उपन्यास और समाज

हिन्दी उपन्यास और दलित

प्रेमचन्द के उपन्यासों में दलित जीवन

प्रेमचन्दकालीन उपन्यासकार और दलित

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में दलित जीवन

यशपाल और निम्नवर्ग

आचार्य चतुरसेन और दलित जीवन

फणीश्वरनाथ रेणु और दलित

उदयशंकर भट्ट और दलित वर्ग

पृष्ठ संख्या

भैरवप्रसाद गुप्त और दलित जीवन
नागार्जुन और दलित
ऐतिहासिक उपन्यास और दलित
राहुल सांकृत्यायन
वृन्दावनलाल वर्मा
आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी
रांगेय राघव
निष्कर्ष ।

तीसरा अध्याय 68 - 105

दलित जीवन और सत्ता

सत्ता और भारतीय समाज
सत्ता की अमानवीय वृत्तिः यथाप्रस्तावित
सत्ता की मौन सहमति और दलितों की त्रासदी परिशिष्ट
प्रशासन की अमानवीयता और महापात्र
पुलीसी अतिचार और महाभोज
चमारों का चरमराता जीवन धरती धन न अपना
छल के बीच सबसे बड़ा छल
दुनिया से कटे हुए मेमनों की कथा सफेद मेमने
पिंजरों में बन्द पन्नों की कथा: पिंजरे में पन्ना
रद्दियों में अटकी ज़िन्दगी छप्पर टोला
ज़िन्दा मुर्दों का यथार्थ मुर्दाघर
निष्कर्ष ।

पृष्ठ संख्या

चौथा अध्याय 106 - 137

दलित जीवन और धर्म

धर्म और भारतीय समाज

मेहतर जाति और धार्मिक शोषण के विभिन्न आयाम

नाच्यौ बहुत गोपाल

डूम जाति और धार्मिक शोषण का इतिहास

एक टुकडा इतिहास

चमार जाति और धार्मिक दुरवस्था के विभिन्न पहलू

मोतिया

जातीयता की अमानवीयता का चित्र:

जल टूटता हुआ

नट-करनट के जीवन की शिथिलता और धर्म:

कब तक पुकारूँ

पिछडेपन से पीडित निम्न जाति और धर्म परिवर्तन की

विवशता

जूतिया

छुआछुत बनाम छुआछुत की त्रासदी

मकान दर मकान

शिक्षा के क्षेत्र में धर्म का हस्ताक्षेप

नयी बिसात

निष्कर्ष ।

पृष्ठ संख्या

पाँचवाँ अध्याय 138 - 163

दलित जीवन और राजनीति

राजनीति और भारतीय समाज

राजनीतिक हरकतों से आहत दलित का इतिहास:

महाभोज

राजस्थानी दलित जीवन की लू

पिंजरे में पन्ना

वोट की राजनीति और बिहारी दलितों का यथार्थ:

जल टूटता हुआ

राजनीतिक छल की पहचान

सबसे बड़ा छल

घृणित राजनीति का यथार्थ

सीताराम नमस्कार

राजनीतिज्ञों की विकृत मानसिकता

परिशिष्ट

एक अनदेखे पहलू का अनावरण

धरती धन न अपना

निष्कर्ष ।

छठा अध्याय 164 - 185

दलित जीवन का समाज शास्त्र

उच्चवर्ग द्वारा निर्धारित समाज शास्त्र

दलित-ऐतिहासिक विकास

गाँधी और अंबेडकर

पृष्ठ संख्या

दलित उद्धार और हिन्दी उपन्यास

समकालीन दलित यथार्थ -साठोत्तर हिन्दी उपन्यास

सत्ता द्वारा तिरस्कृत दलित

धार्मिक अत्याचारों से पीडित दलित

भ्रष्ट राजनीति के शिकार दलित

आर्थिक संकट से त्रस्त दलित

दलित नारी

दलितों की उभरती नई चेतना

निष्कर्ष ।

उपसंहार 186 - 190

संदर्भ ग्रन्थ सूची 191 - 208

दलित कौन ?

भारत के संदर्भ में दलितों का उत्पीडन एक देशव्यापी समस्या है । इस समस्या की जड़ें बहुत गहरी है । स्वतंत्रता के पहले सामन्तवादी या साम्राज्यवादी ताकतों से दलितों का उत्पीडन होता रहा । बाद में पूँजीवादी नीति के परिणाम स्वरूप छोटे-बड़े गाँवों - कस्बों से लेकर नगरों और महानगरों में भी यह शोषण तंत्र ज़ारी रहा । भारतीय शासन तंत्र की छत्र-छाया में विकसित उच्चाधिकारी वर्ग के अनैतिक आचरणों की सफेद पोशी लीला के कारण भी दलितों की स्थिति और अधिक दयनीय होती रही । परिणामत: उन्हें सामाजिक, शैक्षणिक, धार्मिक व राजनीतिक अन्याय, अत्याचार, शोषण, दमन और असमानता का शिकार बनना पडा ।

यहाँ "दलित" अवधारणा पर विचार करना ज़रूरी है, क्योंकि यह दलित शब्द हमेशा चर्चा का विषय रहा है । वास्तव में दलित, शोषित अभिन्न अर्थद्योतक शब्द है । इन शब्दों का प्रयोग सामान्यत: दो संदर्भों में किया जाता है । पहला प्रचलित आदिवासियों, जन-जातियों और अस्पृश्यों के संदर्भ में तथा दूसरा आर्थिक, सामाजिक व शैक्षणिक दृष्टि से नितांत पिछडी जातियों के संदर्भ में ।

वस्तुत: दलित या शोषित शब्द का प्रयोग अर्थ व्याप्ति के स्तर पर मानवतावादी दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए । यहाँ "दलित" कोई विशेष जाति नहीं है । जाति को महत्व न देकर मनुष्य की

पतितावस्था, दुरवस्था तथा उसकी लाचारी और शोषण को देखा जाता है । अर्थात् सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से जिसका शोषण होता है, स्वतंत्रता, समता और प्रगति से अपरिचित रहकर जो अपने मालिक की प्रामाणिक दासता निभाता है और जिसके जीवन में ज्ञान-या प्रकाश के अभाव में अज्ञान या अन्धेरा ही अन्धेरा छाया हुआ है ऐसा व्यक्ति दलित है चाहे उसकी जाति ब्राह्मण ही क्यों न हो ।

इस विशाल अर्थ में सिर्फ अनुसूचित जाति एवं जन जाति ही "दलित" नहीं है । परन्तु सभी शोषित, पीडित, अशिक्षित एवं अभावग्रस्त लोग दलित के अंतर्गत आ जाते हैं ।"[1] इसका तात्पर्य यही है कि जो मनुष्य होने पर भी मानवोचित जीवन जीने के अधिकार से वंचित रह गये है, वे सब दलित हैं ।

दलित साहित्य

नये सिरे से मनुष्य की पहचान लेखक के लिए एक अनिवार्य आवश्यकता बन गई । पारंपरिक ऐतिहासिक मान्यताओं और स्थापित

---

1. "Members of Scheduled castes and tribes, neo-Budhists, the working people, the landless and poor peasants, women and all those who are being exploited politically, economically and in the name of Religion are Dalits"- Dalit Panther manifesto, in Barhara Joshi, Untouchable! Voices of Dalit Liberation - P.141-46

साहित्यिक मानदण्डों ने मनुष्य को युग युगों से अपने शिकंजे में कैद रखा है । इस दीर्घकालीन कैद से मुक्त करके ही उसको सही पहचान की जा सकती है । नयी पहचान के साथ साथ मनुष्य को नया और महत्त्वपूर्ण दर्जा भी देना है । यह तभी हो सकता है, जब धर्म, जाति और अन्य भेद-भाव पर वर्तमान सामन्ती अवशेषों को मनुष्य पर हावी न होने दिया जाए । इस अभियान में सामन्ती निकष की अवज्ञा करके, आदमी को केवल आदमी के निकष पर परखने का नज़रिया सामने आया है । इस विकासोन्मुख दृष्टि का सद्परिणाम है - दलित साहित्य । दमोदर खड़से के अनुसार -"मनुष्य पहले सिर्फ मनुष्य है । धर्म, देश, जाति, वर्ण, देवी-देवता ये सब उसी ने निर्मित किए हैं । धीरे धीरे सबलों ने अपनी सुविधा के अनुसार परिधियों का निर्माण किया, भेद-भाव खड़ा किया । आज भी जिन लोगों के स्वार्थ इन परिधियों से उलझे है, बराबर भेद-भाव का सहारा लेकर अपनी चालाकी साध जाते हैं । वस्तुत: मनुष्य, प्रकृति की सबसे सुन्दर और सजीव कृति है, जो धर्म, जाति, देश आदि सबसे बड़ो है, परे है । दलित साहित्य इसी असीमता को समेटे हुए परंपरा की झूठी सीमाओं को तोडना चाहता है ।"[1]

मुख्य रूप से दलित साहित्य के दो लक्ष्य उभर आए हैं । पहला सामाजिक असमता का चित्रण है, तो दूसरा वर्तमान गलत व्यवस्था के प्रति विद्रोह का । डा.शंकर पुणतांबेकर ने इस बात को यों स्पष्ट किया

---

1. दमोदर खड़से - समकालीन भारतीय साहित्य - जून 85.

भी है - "दलित साहित्य के दो लक्ष्य हैं पहला - समाज में जो अस्पृश्य, शोषित और दलित है उनकी व्यथा-वेदना - यातना को वाणी प्रदान करना, दूसरा सामाजिक न्याय प्राप्त करने की दृष्टि से समाज व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह करना ।"[1]

दलित साहित्य दलितों की हीन भावना और संकीर्णता को दूर करके उन्हें अपने गौरवमय इतिहास एवं परंपरा से परिचित कराके आत्मसम्मान का भाव जगानेवाला साहित्य है । वह अन्यायी, अत्याचारी, दमनकारी शोषकों के हरकतों का दस्तावेज़ ही नहीं बल्कि शिक्षित बनो, संगठित रहो और संघर्ष करो कि वैचारिक क्रांति का दिग्दर्शक भी है । दलित साहित्यकार की पकड समाज के भीतर चलनेवाले संघर्षों और हलचलों पर ज़्यादा है और वे दलितों को परिवर्तन के लिए अनिवार्य क्रांति की ओर अग्रसर कराते भी हैं - "दलित साहित्य धरती से जुड़े लोगों की वेदना, चीख, पीडा, चुभन, छटपटाहट, आक्रोश और विद्रोह की अभिव्यक्ति का स्वर ही नहीं है, अपितु यह दलित जन साधारण में क्रांति का बिगुल बजाता है ।"[2] इससे उसका दृष्टिकोण विशाल हो उठता है, आत्मविश्वास बढता है । वह अपने तंग घेरे से बाहर आने में सहायक हो उठता है । उन्हें एक प्रकार की स्फूर्ति और प्रेरणा भी मिलती है ।

दलित साहित्य एक व्यक्ति या लेखक विशेष का नहीं । वह एक ऐसी रचनात्मक शक्ति का प्रतीक है, जिसमें सदियों से शोषित,

---

1. डॉ. शंकर पुणतांबेकर - प्रकर - मार्च 1983.
2. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी - ज्योत्सना - मार्च 1991.

पीडित जन साधारण अपनी मुक्ति और स्वाभिमानी जीवन का स्वप्न देखता है और उस स्वप्न को साकार करने के लिए संघर्षरत रहता है । दलित लेखकों के लिए भाषा और शिल्प सामाजिक बदलाव के हथियार ही हैं। वे समाजवादी समाज की स्थापना वैचारिक क्रांति के माध्यम से करना चाहते हैं । इसलिए दलित साहित्य के लेखक कविता, कहानी, नाटक आदि में शब्दों की आलंकारिक विशिष्टता के बजाय जन भाषा की सहज शील के हिमायती हैं । क्योंकि जन भाषा का लेखन ही दलित जन साधारण का लेखन बनकर वैचारिक स्तर पर विद्रोह का शंखनाद करके समाजगत समस्याओं से मुक्ति दिला सकता है ।

पाश्चात्य प्रभाव

दलितों की समस्या सिर्फ भारत तक सीमित नहीं वह विश्वभर की समस्या है । जहाँ जहाँ मनुष्य ने दूसरों को अपने अधीन रखने और उनका शोषण करने का कार्य किया है वहाँ वहाँ उत्पीडितों के लंबे इतिहास भी देखने को मिलते हैं । विश्व का इतिहास इसका साक्षी है। नीग्रो वर्ग की गुलामी के जंजीरों को तोडने के लिए एब्रहाम लिंकन ने जो ऐतिहासिक संघर्ष किया था, उसने विश्वभर की पीडित जनता के अन्धकार पूर्ण भविष्य में प्रकाश की किरणें फैला दी थी । उसी प्रकार विश्व के कोने कोने में प्रतिभा के धनी रचनाकारों ने पीडितों की मुक्ति के लिए अपनी लेखनी चलाई है । चिली में - पाबलो नेरूदा, अमरिका में सॉल बेल्लो, नैजीरिया में बोल सोईका, रूस में तालस्टाई, योसफ ब्रोडस्की, दक्षिण आफ्रिका में नदीन गोरडिमेर, इतालवी में दारिया को जैसे

रचनाकारों ने दलितों के जीवन यथार्थ को बदलने के लिए अपनी रचनाओं के माध्यम से महत्वपूर्ण योगदान दिया है । इस प्रकार दलित की कथा विश्वव्यापी है तथापि आफ्रिका के दलितों की पीडा का इतिहास कुछ अलग ही है ।

दलित वर्ग की विश्व कहानी की तलाश के संदर्भ में सबसे पहले आफ्रिका को लिया जाना चाहिए । क्योंकि काली आफ्रिका ने दुनिया की हर कौम से ज़्यादा भोगा है । वे अमरीका और यूरोप के तथाकथित सभ्य लोगों के बीच घिनौने रंगवाद से अपमानवीयता का संत्रास भोगते रहे और आज भी दक्षिण आफ्रिका और दक्षिण अमरीका के कुछ हिस्सों में वह जारी है । "आफ्रिका जहाँ रहा, वहाँ उसे गुलाम की तरह रखा गया, घर के कुत्ते, बिल्ली की पालतू ज़िन्दगी उससे बेहतरी रही । अमानवीयता का क्रूर मज़ादम उसने उस समय भोगा, जब उपनिवेशवादी पुर्तगाली, डच, अमरीकी और अंग्रेज़ उसके गले में रस्सियाँ डालकर उसे आवारा पशु की तरह खींच कर ले जाते थे ।"[1] इस दुःख को बहुत अधिक भोगा है आफ्रिका ने, लतानी अमरीका के उपनिवेशों ने, दक्षिण पूर्व एशिया के गरीबों ने, विएतनाम, चीन, भारत, पाकिस्तान, आदि के भूख से कुल बुलाते लोगों ने ।

तीसरी दुनिया के पास कितनी परतें थी - उसे अपनी भूख के खिलाफ लडना था, उसे अपनी आज़ादी के लिए लडना था, उसे

---

1. रमेश दवे - समकालीन रचना और विचार - पृ. 61

अपनी एक पूरी संस्कृति के लिए लडना था । अंततः उस मनुष्यता के लिए भी लडना था, जिसके न होने का सारा विकराल दुःख उसने और उसकी कौम ने भोगा है । इसलिए तीसरी दुनिया में रोटी का मसला अगर अर्थशास्त्र को सुपुर्द कर दिया गया और मार्क्स, लेनिन, माओ, हो ची मीन्ह आदि के ज़रिए उसे राजनीतिक स्तर पर लडा गया, तो कहा जा सकता है कि दुनिया के दलितों ने सबसे पहले रोटी का अर्थशास्त्र रचा, रोटी की राजनीति रची और भूखे मरने के बजाय भूखा रखनेवालों के खिलाफ एक नया वैचारिक युद्ध घोषित किया - "भूख का सवाल जब सृजन की ज़मीन पर खडा हुआ तो वहाँ भूख संस्करित हुई । दलितों ने अपने तमाम कष्टों, पीड़ाओं और यातनाओं के विरोध में तलवार उठाने के बजाय कलम उठाई । शब्दों के छल से लबालब साहित्य के दोगले चरित्र पर प्रहार किया और अपने जीवन का कोरा यथार्थ नई शब्दावली, नये बिंब, नये संवेदन के साथ दुनिया के सामने एक विशेष आक्रामक मुद्रा में रख दिया ।"[1] कहने का मतलब यह हुआ कि विश्व साहित्य में दलितों की मुक्ति के लिए जो साहित्य रचा गया है उनका प्रभाव भारतीय साहित्य में अवश्य पडा है । हिन्दी के रचनाकारों ने इन से ज्ञानात्मक संवेदना प्राप्त की है ।

दलित लेखन - कुछ नये प्रश्न

दलित साहित्य मराठी में केन्द्रीय स्थान हासिल कर चुका है । दूसरी भाषाओं में भी विकास की प्रक्रिया में है ।

---

1. रमेश दवे - समकालीन रचना और विचार - पृ. 61

फ़िलहाल हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में यह काफी ज़ोरदार चर्चा का विषय बन गया है कि दलित साहित्यकार कौन हो सकता है । इस संदर्भ में एक संकुचित साहित्य दृष्टि वर्तमान है । इसके अनुसार दलितों के जीवन पर दलितों द्वारा लिखित साहित्य ही दलित साहित्य है । 1967 में आयोजित दलित साहित्य संघ के प्रथम सम्मेलन इस बात पर ज़ोर देते हुए दिखाई देता है । इसके प्रस्ताव संख्या पाँच में बताया गया है -"मराठी में दलितों द्वारा व दलितों पर अन्य लोगों द्वारा लिखे साहित्य की अलग अलग पहचान दलित साहित्य के रूप में स्वीकार की जानी चाहिए ।"[1] इसका यही अर्थ है कि दलितेतर लेखकों द्वारा दलित जीवन पर लिखे गये साहित्य दलित साहित्य कहने योग्य नहीं है ।

यह एक संकुचित दृष्टि है । क्योंकि समाज एक इकाई है, जिसमें विभिन्न समुदाय के लोग एक दूसरे से हिलमिलकर रहते हैं । यह आदान-प्रदान अपनी प्रकृति में संघर्षात्मक भी हो सकता है, मैत्रीपूर्ण भी और विशुद्ध व्यावसायिक भी । जब कोई लेखक किसी समाज को अपनी रचना का विषय बनाता है, तब वह किसी एक समुदाय को दूसरे से काटकर नहीं देख सकता । शायद उस लेखक की संवेदना या सहानुभूति समाज के किसी विशिष्ट अंग या समुदाय से अवश्य हो सकती है । इस संदर्भ में दलित लेखक की दलित समुदाय से निकटता या उस समुदाय का अंग होने की स्थिति अपने समुदाय को अधिक संवेदना, सहानुभूति या अधिक वस्तुगतता से चित्रित करने में सहायक हो सकती है ।

---

1. चमनलाल - विकल्प - 1997

लेकिन दलितेतर लेखकों द्वारा दलित जीवन की अभिव्यक्ति उतनी सफलता के साथ नहीं हो सकती । यह मानना ठीक नहीं लगता ।

हिन्दी में प्रेमचन्द, निराला, नागार्जुन, दिनकर, धूमिल, मुक्तिबोध जैसे रचनाकार हैं, जिन्होंने अपने अनंत दृष्टि एवं विकसित मानवीय संवेदना के तहत समाज के उत्पीड़ित वर्ग के जीवन को अपनी रचना का विषय बनाया है । इनका साहित्य दलित साहित्य है यद्यपि वे स्वयं दलित न हो । वेदप्रकाश अमिताभ के शब्दों में "दलितेतर लेखकों ने भी जो दलित साहित्य रचा है, वह दलितों के वास्तविक जीवन के निकट संपर्क में रहकर लिखा गया साहित्य है । यह कारण है कि प्रेमचन्द, महाश्वेता देवी, तकषी, भरैप्पा आदि की रचनायें कम महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय नहीं है ।"[1] इसलिए केवल दलित लेखकों द्वारा रचित साहित्य को ही दलित साहित्य कहना निश्चय ही ठीक नहीं है । दलित जीवन समस्या को लेकर दलितेतर साहित्यकों द्वारा रचित साहित्य को भी दलित साहित्य के अंतर्गत मानकर दलित संबंधी विशाल मानसिकता को अपनाना काफी संगत होगा ।

मराठी दलित साहित्य

मराठी में दलित साहित्य को एक आन्दोलन के रूप में मान्यता सातवें दशक में प्राप्त हुई । वहाँ ज्योतिबा फुले तथा डा. अंबेडकर

---

1. डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ - ज्योत्सना - अक्तूबर 1998

के प्रभाव के कारण इस आन्दोलन को काफी ठोस धरातल प्राप्त हुआ । लेकिन मराठी दलित आन्दोलन की जड़ें गहरी है । वह भक्तिकाल तक व्यापा हुआ है । इसलिए मराठी दलित साहित्य आधुनिक संदर्भ का एक आन्दोलन मात्र नहीं बल्कि एक सांस्कृतिक पुनर्जागरण का परिणाम है - "मराठी में दलित साहित्य केवल आधुनिक सामाजिक आन्दोलन के कारण ही पैदा नहीं हुआ, वरन् मध्यकाल के मराठी सन्त साहित्य व इसके साथ पूरे भारत में उठे भक्ति आन्दोलन को भी दलित साहित्य ने अपनी परंपरा के रूप में देखा है ।"[1] नामदेव, चोखमिला, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, एकनाथ आदि संत कवि आधुनिक मराठी दलित साहित्यकारों के लिए आदरणीय रहे हैं ।

पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी ने मराठी दलित वर्ग के सांस्कृतिक पुनर्जागरण और सामाजिक-समता के संघर्ष के विशाल परिप्रेक्ष्य में दलित आन्दोलन का मूल्यांकन करते हुए कहा - "मराठी के संदर्भ में दलित साहित्य का आन्दोलन एक अर्थपूर्ण घटना है । जिसकी जड़ें मात्र साहित्य तक सीमित न रहकर दलितों की अपनी स्वतंत्र संस्कृति से जीवन रस लेती हुई सीधे सामाजिक असन्तुलन में धँसी हुई है । और जाति व्यवस्था की अभेद्य चट्टानों को चुनौती दे रही है ।"[2] स्पष्ट है कि महाराष्ट्र के सामाजिक आन्दोलन की सृजनात्मक अभिव्यक्ति ही है वहाँ का दलित साहित्य । अर्थात् एक सामाजिक आन्दोलन की प्रतिक्रिया स्वरूप ही इस साहित्यिक आन्दोलन का जन्म हुआ ।

---

1. डॉ. चमनलाल - विकल्प - 1997
2. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी - ज्योत्सना - अप्रैल - 1991

सवर्ण, धनी लोगों, आभिजात्य बुर्ज्वा शोषक वर्ग के खिलाफ, अपने अस्तित्व की लडाई ही मराठी दलित साहित्य का केन्द्रीय बीज मंत्र है । आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक विषमता को जड से उखाड फेंकना ही इसका मकसद है । इसलिए मराठी में -"दलित साहित्य का प्रत्येक लेखक कलम का मज़दूर ही नहीं, परिवर्तन और सामाजिक जागरण का एक कार्य कर्त्ता भी है ।"[1]

मराठी में दलित साहित्य को प्रस्थापित करने में डा. म. ना. बानखेडे, म. भि. चिटणीय, राजाढोले, बाबुराव बागुल, नामदेव ढसाल, दयापवार, अर्जुन गंगले, केशव मेश्राम तथा कई अन्य विचारकों ने अर्थपूर्ण कार्य किया है । इसके साथ दलित साहित्य के प्रसार-प्रचार में जुडी हुई एक मात्र पत्रिका "अस्मिता-दर्श" के संपादक गंगाधर जनतावणे का योगदान भी सराहनीय है ।

ये लोग यह मानकर चलते हैं कि दलित साहित्य सही अर्थों में डा. अंबेडकर के विचारों से प्रेरित साहित्य है, पारंपरिक मराठी साहित्य से पूर्णतया पृथक स्वतंत्र आधुनिक तथा समसामयिक साहित्य है, दलितों की यातनाभरी ज़िन्दगी से उद्भेदित होता हुआ उनकी ज़िन्दगी से सीधे साक्षात्कार करानेवाला साहित्य है, फिर भी इन लेखकों में दो धारायें स्पष्ट नज़र आती हैं ।

---

1. डॉ. सत्यनारायण व्यास - मधुमति जनवरी - 1997

पहली धारा बाबुराव बागुल, नामदेव ढसाल, अर्जुन गंगले आदि उन साहित्यकारों की है जो डॉ. अंबेडकर के विचारों के साथ साथ मार्क्सवादी सिद्धांत को दलित साहित्य का प्रेरणा स्रोत मानकर चलते हैं । दूसरी धारा मार्क्सवादी सिद्धांतों का प्रखर विरोध करते हुए दलित साहित्य को भगवान बुद्ध, महात्मा फुले तथा डा. अंबेडकर के विचारों से जुडा देनेवाली है । इस धारा के अधिवक्ताओं में राजाढोले, ज. वि. पवार तथा "मास मूवमेंड" से संबद्ध कई साहित्यकार हैं ।

यह सत्य है कि दलित साहित्य को मराठी में डॉ. अंबेडकर के विचारों से अधिक प्रेरणा मिली है । क्योंकि शिक्षा संपन्न प्रबुद्ध दलित युवकों में अपनी स्थिति और सामाजिक व्यवस्था को लेकर जो असंतोष पनप रहा था, उसे अंबेडकर के मंत्र - एजुकेट, आर्गनाइज़, एजिटेट. से एक दिशा मिल गयी । इस असंतोष की तीखी अभिव्यक्ति साहित्य के ज़रिए सर्वाधिक हुई । अंबेडकर ने सामाजिक असमानता, अन्याय और शोषण, दमन के विरोध में "बहिष्कृत भारत", "मूक नायक", "जनता", "प्रबुद्ध भारत" आदि पत्र-पत्रिकाओं का संपादन एवं प्रकाशन किया । साथ ही मौलिक ग्रंथों की रचना करके दलितों को अपने प्राचीन साहित्य, संस्कृति एवं गौरवमय इतिहास से परिचित कराया और उनमें आत्म सम्मान जगाने का कार्य भी किया । दलित जनसाधारण को संघर्षी बनाने तथा अपनी अस्मिता, स्वाभिमान एवं सम्मान की रक्षा के लिए विद्रोह के रास्ते को अपनाने के लिए डा. अंबेडकर के साहित्यों और विचारों ने काफी प्रेरणा दी । इसलिए यह कहने में कोई दोष नहीं है कि अंबेडकर के चिंतन ही आज के दलित साहित्य का प्रेरणा स्रोत है ।

इस प्रकार दलित चेतना का उभार स्वातंत्र्योत्तर परिस्थितियों में अखिल भारतीय स्तर पर हुआ, लेकिन दलित साहित्य के अंकुरण और पल्लवन के लिए महाराष्ट्र की परिस्थितियाँ अधिक अनुकूल सिद्ध हुई । ये दलित साहित्यकार एक नए समाज के गठन के लिए सक्रिय है । एक ऐसा समाज वे चाहते हैं जहाँ कोई भेद-भाव न हो । डॉ. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ने उनकी लेखनी तथा मन की समाज व्यवस्था को यों व्यक्त किया है -"प्राणों की बाजी लगाकर लडनेवाले योद्धा के तेवर से वे लिखते है, ऐसी व्यवस्था वे चाहते हैं, जो न्यायोचित विकास का अवसर दे सके । जाति, वर्ण, अर्थ के नाम पर किसी प्रकार की विषमता न रहने दें ।"[1]

हिन्दी साहित्य में दलित विचार

हिन्दी में "दलित साहित्य" संबंधी चर्चा की शुरूआत सन् 1980 के बाद ही नज़र आती है जब कि मराठी में यह साहित्य 1960 के आसपास ही उभरकर सामने आया है । आधुनिक संचार प्रणाली एवं मुद्रण तकनीकी के बावजूद 20-25 वर्ष बाद ही दलित साहित्य की ओर हिन्दी लेखकों का ध्यान गया । लेकिन हिन्दी साहित्य के आदिकाल से ही दलित जीवन की अभिव्यक्ति की एक परंपरा विद्यमान है । इन रचनाओं में दलितों की हालत, पीडा, आकांक्षा आदि की प्रस्तुति मार्मिक ढंग से हुई है । लेकिन उस समय उनका लक्ष्य कभी "दलित साहित्य" का निर्माण नहीं था -"आदिकालीन कुछ सिद्ध और भक्तिकालीन रैदास तथा कृष्णदास दलित थे । परन्तु उनके साहित्य पर आन्दोलनकारी दलित

---

1. डॉ. चन्द्रकान्त बांदिवडेकर - दस्तावेज़ - 1979

साहित्य का आरोप करना उनके प्रति अन्याय होगा । क्योंकि उनका दृष्टिकोण दलित साहित्य निर्माण का नहीं था ।[1]

आदिकालीन सिद्ध साहित्य अपने युगीन वैषम्य के प्रति विद्रोह व्यक्त करता है, जिसमें दलितों को समता, प्रतिष्ठा और न्याय प्रदान करने का दृष्टिकोण है । सिद्ध साहित्य में जो दलित चेतना है, उसको समझने के लिए तत्कालीन परिस्थितियों को समझना ज़रूरी है । उस समय साधारण जन ब्राह्मणों की निर्मम सत्ता का शिकार बने थे । इस हालत में ब्राह्मण-कर्मकाण्ड के विरुद्ध बौद्ध धर्म ने जनव्यापी विद्रोह ग्रहण किया था । देश की अतुल संपत्ति का अधिकांश भाग सामन्तों, पुरोहितों और दरबारियों के हाथ में होने के कारण नब्बे प्रतिशत जनता निर्धन थी । इन प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण जनता में आत्म सम्मान की भावना नहीं थी । संक्षेप में, सामन्तकालीन प्रतिकूल परिस्थितियों का प्रभाव सिद्धों की विचारधारा पर पडा और उनके साहित्य में इसकी प्रतिक्रिया अवश्य हुई । सिद्धों ने अपने साहित्य में विद्रोह का स्वर भर दिया था । सरहप्पा तथा अन्य कुछ सिद्धों ने परंपरा के विरुद्ध विद्रोह का रुख अपनाया । परन्तु आगे चलकर उन्हें सामन्तवादी ताकतों के सामने परास्त होना पडा ।

पूर्व मध्यकाल में निर्गुण-पंथी तथा सगुण पंथी कवियों ने भक्ति आन्दोलन के द्वारा भक्ति के क्षेत्र में सभी जातियों को समान

---

१. डॉ. बलवन्त साधु जाधव - प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना - पृ. 55

अधिकार प्रदान करने का कार्य किया । इस काल के कवियों ने ईश्वर के दरबार में स्पृश्य, अस्पृश्य जैसी जातीयवादी धारणा को स्थान नहीं दिया । हिन्दु धर्म से प्रभावित सनातनी परंपराओं, रूढियों आदि के विरोध में जाकर उन्होंने जुल्मी धार्मिक और सामाजिक विचारों की हेयता दिखाई है । हिन्दु धर्म ने जिस वर्ण व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था को प्राणभूत माना है, उसको जड को तोडने का प्रयत्न भक्तिकाल के निर्गुण पंथियों ने किया । इस प्रकार हम देखते हैं कि आदिकाल के निर्गुण पंथों के साहित्य ने दलितोद्धार को प्रमुखता दी है ।

आधुनिक हिन्दी साहित्य भी अनेक दलित जीवन संदर्भों से गुज़रा । सभी विधाओं ने इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य किया है । अन्य किसी भी भाषा की तरह दलित जीवन की अभिव्यक्ति पहले कविता में हुई इसके बाद उपन्यास नाटक और अन्य विधाओं में । हिन्दी कविता में दलित चेतना की शुरूआत निराला की "वह तोडती पत्थर", "भिक्षुक", "विधवा" जैसी कविताओं से हुई है । पर इसके पहले ही दलित चेतना से युक्त कई रचनाएँ हो चुकी थी । मैथिली शरण गुप्त की "भारत भारती" (1963), सियाराम शरण गुप्त की "अनाथ" (1961) जैसी कविताएँ इस दृष्टि से विचारणीय है । मैथिली शरण गुप्त की रचना "भारत भारती" में दलितोद्धार तथा समाज सुधार विषयक विचार समाए हुए हैं । आर्य समाज ने हिन्दु समाज की जिस अस्पृश्यता पर हमला किया था, उसकी सुधारवादी प्रगतिशील चेतना को स्वीकृत करके कवि मैथिलो शरण गुप्त ने हिन्दु समाज में पुर्नगठन की उद्घोषणा की ।

उन्होंने भारत भारती में दलित जीवन का जो चित्र खींचा, वह सामाजिक यथार्थ की मार्मिक अभिव्यक्ति ही है ।

पानी बनाकर रक्त का, कृषि कृषक करते है यहाँ
फिर भी अभागे भूख से दिन-रात मरते हैं यहाँ
सब बेचना पडता है उन्हें निज अन्न पर निरुपाय है
बस चार पैसे से अधिक पडती न दैनिक आय है ।[1]

सियाराम शरण गुप्त की "अनाथ" नामक रचना में दलितों पर होनेवाले अन्याय को दर्शाया गया है । ये रचनाएँ दर असल हिन्दी साहित्य की दलित चेतना की प्रारंभकालीन प्रयत्नों की ओर इशारा करती हैं ।

छायावादोत्तर युग में दलित जीवन और उसकी अभिव्यक्ति हिन्दी कविता का आम विषय बन गया है । सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला का व्यक्तित्व इस संदर्भ में विशेष उल्लेखनीय है । जड परंपरा, ऊँच-नीच, जाति-भेद, शोषण आदि पर उन्होंने कविता की, जो समाज की ज्वलंत समस्या थी ।

"जला दे जीर्ण शीर्ण प्राचीन ;
क्या करूँगा तन जीवन हीन ?"[2]

---

1. मैथिली शरण गुप्त - भारत भारती - पृ. 88
2. निराला - गीतिका - पृ. 39

निराला जहाँ एक ओर सीना तानकर विद्रोही स्वर में सामाजिक, आर्थिक वैषम्य की जगह समता पर आधारित नवनिर्माण और सामाजिक गठन की उद्घोषणा करते हैं वहाँ दूसरी ओर दलित चमार रैदास के चरणों का स्पर्श करके नमस्कार भी ।

सुमित्रानन्दन पंत को "ग्राम्या" (1956), रामकुमार वर्मा द्वारा रचित "एकलव्य" (1958), रामधारी सिंह दिनकर की कविता "बोधिसत्व"( ), "कुरुक्षेत्र" (1976), "रश्मिरथी"(1960), जगदीश गुप्त की रचना "शंबूक"(1974) आदि में दलित जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है । पंत की"ग्राम्या" में परंपरागत रूढियों, जातीय भिन्नताओं, अशिक्षा और शोषणों से ग्राम जीवन पर होनेवाले प्रभावों को प्रतिबिंबित किया गया है । रामकुमार वर्मा की रचना "एकलव्य" में प्रताडित शूद्र जीवन की कथा है, जो तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक न्याय और अन्याय के चित्र सामने रखती है । "शंबूक" कवि जगदीश गुप्त का लघुकाव्य है, जिसमें वर्ण व्यवस्था, जातिभेद और पक्षपातपूर्ण व्यवहार के प्रतिरोध में शूद्र शंबूक का विद्रोही स्वर गुंजित हुआ है -

"शूद्र हूँ मैं
लिए काली देह
इसी से मुझ पर
तुम्हें सन्देह

सभी पृथ्वी पुत्र है तब जन्म से
क्यों भेद माना जाय ।"[1]

---

1. जगदीश गुप्त - शंबूक - पृ. 62

इस प्रकार हिन्दी कविता के क्षेत्र में दलित जीवन की अभिव्यक्ति की एक स्वस्थ परंपरा दिखाई देती है । आगे की कविताओं में भी दलित समस्या काफी प्रबल है । हिन्दी कविता की प्रगतिशील कविता, नयी कविता, जनवादी कविता, आदि के कवियों ने इतिहास की प्रमुख धारा बने दलित जीवन के साथ जुडने की कोशिश की है । दिनकर, शिवमंगल सुमन, नागार्जुन, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, केदारनाथ सिंह, चन्द्रकांत देवताले, कुमार विकल, लीलाधर जगुडी, वेणुगोपाल, धूमिल, अरुण कमल, राजेश जोशी आदि कवियों की सभी रचनाओं में दलित जीवन और उसकी चेतना को गहरी पकड द्रष्टव्य है । इन कवियों ने यह जान लिया है कि जीवन की गंभीरता जीने के संघर्ष में है ।

इन कवियों के लिए आज़ादी का मतलब मनुष्य से मनुष्य की मुक्ति है । उन्हें गुलाम बनाए रखनेवाले शस्त्रों-शास्त्रों से मुक्ति है । असमानता व शोषण का बिगुल बजानेवाले सामन्तवादी ताकतों से मुक्ति है । वह अपने गौरव तथा आत्मसम्मान को बनाए रखनेवाले समता एवं ममता के समाज की संरचना का स्वप्न देखता है -"दलित कविता का आशय उस कविता से है, जो संवेदना के धरातल पर मनुष्य से जुडती है - उससे संवाद करती है और मनुष्य से मनुष्य को जोडती है तथा समता - ममता वाले समाज की संरचना के लिए "हृदय की आँख" होकर मूक माटी को मुखरता प्रदान करती है ।"[1]

---

1. डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी - आजकल 1991 - अप्रैल

दलित कविता मनुष्य को मनुष्य बनानेवाली कविता है । इसलिए वह अनिवार्य होने पर अपने आप से, अपनी प्रकृति से, अपने समाज से, अपने समय से विद्रोह करती हुई निरंतर संघर्ष करती है, लडती है । वह यातनाओं के खिलाफ संघर्ष कर विजय के लिए दृढ संकल्प है । आलस्य, उदासीनता, उपेक्षा, घृणा आदि के कारण नष्ट होती शक्ति को नवनिर्माण के लिए सक्रिय रखने में लगी हुई है । संक्षेप में वे एक ऐसे समाज के गठन में दृढ संकल्पित हैं कि जहाँ किसी भी तरह का भेद-भाव या शोषण न हो । सत्यप्रेमी के शब्दों में -"उसके काव्य में जातिभेद, वर्ण भेद, ऊँच-नीच और भाग्य-कर्म भेद की असमानता, अस्पृश्यताव शोषण, उत्पीडन के विरुद्ध स्पष्ट रूप से विद्रोह की व्यंजना होती है । दलित कविता में साम्राज्यवाद, पूँजीवाद, व्यक्तिवाद, सामंतवाद, अलगाववाद के विरुद्ध ही जेहाद नहीं है अपितु प्रत्येक स्तर पर किए जानेवाले भेद, पलायन और शोषण के खिलाफ जेहाद है ।"[1] स्पष्ट है कि दलित कवि का कवि धर्म पूर्णत: पीडितों एवं शोषितों पर अवस्थित है याने कि समाज सापेक्ष्य है ।

हिन्दी कहानी भी दलित जीवन के अभावग्रस्त जीवन से पूर्णत: स्पर्शित है । नयी कहानी से समान्तर कहानी तक के कहानीकारों ने कहानी में यथार्थ का जो संसार रचा था उसमें नौकर, आदिवासी, मज़दूर, किसान, हरिजन सब शामिल हो जाते हैं । रमेश दवे के अनुसार- "हिन्दी कहानी के क्षेत्र में चाहे वह नयी कहानी हो, सचेतन या समान्तर कहानी हो, इन सब के ज़रिए आम आदमी की कहानी रची है । वह

---

1. डॉ.पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी - अप्रैल - 1999

आम आदमी अपने अपने ढंग से अपनी पीडा, निराशा, उदास, आतंक और अत्याचार का संसार लेकर आया है, तो कहानी में वही मनुष्य तो रचा गया है, जिसके संवेदन से दुनिया के अन्य कहानीकार भी दलित कहानीकार बने हैं ।"[1] प्रेमचन्द से लेकर ताज़ातरीन कथाकार तक एक पूरी श्रृंखला है, जो अलग-अलग समय पर भले ही अलग-अलग आन्दोलन के साथ जुडे रहे हैं । वे तमाम कहानीकार चाहे दलित वर्ग के न रहे हो, उपेक्षितों की पीडाओं का एक विषम संसार उनका अपना था । ये अपने जन की भूख, यातना और बेबसी के मात्र दर्शक ही नहीं बल्कि भोक्ता भी थे ।

प्रेमचन्द की कहानियों में दलितों की दरिद्रता जन्य वेदना के अजस्र स्रोत फूट पडे हैं । सामाजिक जीवन में बहिष्कृत और रूढियों के कायल दलितों के कारुणिक चित्र उनकी कहानियों की विशेषता समझी जाती है । शोषण और अत्याचार पर आधारित समाज व्यवस्था का भयावह रूप उनकी "घासवाली", "ठाकुर का कुआ", "सौभाग्य के कोडे", "सद्गति" आदि कहानियों में मिलते हैं । उनकी बहु चर्चित कहानी "कफन" में चमार घीसू और माधव के कुनबे की आर्थिक दुर्दशा दिखाई है । बुधिया की मृत्यु के उपरान्त किसी न किसी प्रकार कफन की व्यवस्था की जाने पर भी उसको नकारते हुए सामाजिक व्यवस्था के प्रति अपना विद्रोह प्रकट करता है । प्रेमचन्द ने इस कहानी में चमारों की दरिद्र और अपमानित ज़िन्दगी का मार्मिक चित्रण किया है -"घर में मिट्टी के दो चार बर्तनों के सिवा कोई संपत्ति नहीं । फटे चिथडों

---

1. रमेश दवे - समकालीन रचना और विचार - पृ. 69

से अपनी नग्नता को ढके हुए जिए जाते थे । कर्ज से लदे हुए, गालियाँ खाते, मार भी खाते, मगर कोई गम नहीं ।"[1] इस दुरवस्था का कारण सामाजिक व्यवस्था ही है - प्रेमचन्द की कहानियाँ इस सत्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करती हैं । प्रेमचन्द की "मंदिर", "मंत्र", "गरीब की राय", "मुन्नु मेहत्तर" आदि कहानियाँ भी दलित जनसाधारण के अभावग्रस्त जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति ही है ।

सामाजिक परिवर्तन और क्रांति के लिए हमेशा नवीनता का ग्रहण करनेवाले कहानीकार है - पाण्डेय बेचनशर्मा "उग्र" । समाज में प्रचलित रूढ परंपरा एवं घातक तथा अत्याचार पूर्ण सामाजिक जीवन की चक्की में पिसनेवाले दलितों के जीवन का दस्तावेज़ है उग्र की कहानियाँ । इस संदर्भ में उनकी "समाज के चरण", "ब्राह्मणद्रोही" आदि कहानियाँ स्मरणीय है । उग्र अपनी कहानियों से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि मनुष्य की श्रेष्ठता जन्म में नहीं, बल्कि कर्म में है ।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, राहुल सांकृत्यायन, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि की कहानियों में भी दलित जीवन की अभिव्यक्ति मार्मिक ढंग से हुई है । आचार्य चतुरसेन की कहानी "मेहतर की बेटी का भात" दलितों के दुरितपूर्ण जीवन की ओर इशारा करती है । निराला की कहानी "चतुरी चमार" चमार जीवन पर आधारित है । उनकी दूसरी कहानी "सतमी के बच्चे" में भी समाज के

---

1. प्रेमचन्द - कफ़न

निम्नवर्ग चमार के जीवन पर आधारित है । उपेन्द्रनाथ अश्क की कहानी "पिंजरा" चमार और भंगियों के दुरितपूर्ण जीवन की ओर पाठक के मन आकर्षित करने में सफल निकली है । कहानी के माध्यम से लेखक ने चमार और भंगियों के असुविधापूर्ण जीवन की अन्धेरी कोठरियों को प्रकाश में लाने का कार्य किया है ।

आगे चलकर दलित जन साधारण को केन्द्र में रखकर "समान्तर कहानी" का सृजन हुआ । रमेश दवे के शब्दों में "समान्तर कहानी की मनोभूमि में एक दलित संघर्षशील सर्वहारा हो रहा ।"[1] नयी कहानी की मध्यवर्गीय संवेदना से भिन्न समसामयिक जीवन की विडंबनाओं के पर्त दर पर्त खोलकर रखने में परवर्ती कहानीकार सफल निकले हैं । इस संदर्भ में समान्तर कहानीकार तथा समकालीन कहानीकारों का योगदान विशेष उल्लेखनीय है ।

समान्तर कहानी को सामाजिक बदलाव के संघर्ष के लिए समर्पित कहानी कहा है । इस बदलाव की भूमिका में नयी कहानी, साठोत्तरी कहानी और आज की कहानी के तमाम कहानीकार अपने आप घुले मिले से लगते हैं । ये कथाकार दलितों के काफी करीब है, उनके सामने न जाति है न वर्ण । वे तमाम पीडितों, शोषितों, उपेक्षितों तथा अभावग्रस्तों के लिए लिखते हैं । वे एक गलत व्यवस्था को गिराने तथा नए के गठन के लिए सक्रिय है । इस प्रयत्न में प्रेरणा के रूप में मराठी साहित्य, लातिन अमरीकन साहित्य तथा आफ्रिकी साहित्य की भूमिका को उन्होंने स्वीकार किया है ।

---

1. रमेश दवे - समकालीन रचना और विचार - पृ. 69

कविता और कहानी की भाँति हिन्दी साहित्य के अन्य विधाओं में भी पहले से ही दलित जीवन की अभिव्यक्ति की एक सशक्त परंपरा उपलब्ध है । प्रेमचन्द के "प्रेम की वेदी", हरिकृष्ण प्रेमी के "शपथ", "नई राह", सेठ गोविन्ददास के "कुलीनता", आचार्य चतुरसेन के "गांधारी," सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के "बकरी", "लडाई", भीष्म साहनी के "माधवी", "हानुष", जगदीशचन्द्र माथुर के "पहला राजा", विनोद रस्तोगी के "नये हाथ" जैसे नाटक निम्नवर्ग के जीवन के विविध पहलुओं को दर्शानेवाले हैं ।

दलितों को सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक शक्तियों के शिकार के रूप में इन नाटकों में चित्रित किया है । दलित जीवन की अभिव्यक्ति करनेवाले हिन्दी नाटक इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि समाज की परंपरागत रूढियों ने मनुष्य को अपने पंजे में जकड लिया था । इन नाटकों ने निम्नवर्ग के जीवन को यातनामय बनानेवाली वर्ण-व्यवस्था, जाति-प्रथा, अस्पृश्यता जैसे तथ्यों पर कठोर आघात किया है ।

हिन्दी एकांकी, निबंध, रेखाचित्र आदि विधाओं में भी सर्वहारा वर्ग के जीवन यथार्थ को प्रकाश में लाने का प्रयास लेखकों द्वारा करते दिखाई देता है । हरिकृष्णप्रेमी के "पश्चाताप", "निष्ठुर न्याय", लक्ष्मीनारायण लाल के "औलादी का बेटा" आदि इस संदर्भ में

स्मरणीय है । ऊँच-नीच भाव को दूर करने की कामना इन रचनाओं में मौजूद है । यही कारण है कि इन एकांकियों के पात्र इस अत्याचार के विरुद्ध आवाज़ उठाते दिखाई देते हैं ।

इसी तरह हिन्दी निबंध और रेखाचित्रों में भी दलित जन साधारण को विषय के रूप में स्वीकार किया है । इस दृष्टि से निराला और महादेवी वर्मा का नाम महत्वपूर्ण है । इन लेखकों ने नव जागरण की ओर निम्न वर्ग का ध्यान आकर्षित किया है । इस संदर्भ में निराला के "चरखा", "अधिकार की समस्या", "वर्तमान हिन्दु समाज" जैसे निबंध अधिक महत्व रखते हैं । महादेवी ने अपने रेखाचित्र "अतीत के चलचित्र" में दलितों के प्रति होनेवाली संकुचित वृत्ति का उपहास किया है ।

इस प्रकार दलित जीवन हिन्दी साहित्य में हमेशा चर्चा का विषय रहा है । लेकिन अस्सी के बाद दलित साहित्य नामक एक आन्दोलन चल पडा । पर उस का कोई असर या विकास बाद में दिखाई नहीं देता । हिन्दी साहित्य में दलित जीवन पर ही गंभीर चर्चा होती रही है अब उसका दायरा बढ रहा है, इसमें केवल दलितों पर दलितों का लिखा साहित्य ही शामिल नहीं है अपितु वह लेखन भी शामिल है जो दलितों पर गैर दलितों ने लिखा है । इस साहित्य पर शोषित तबकों के जीवन संघर्षों का गहरा प्रभाव देखने को मिलता है । बता सकते हैं कि यह मूलत: प्रगतिशील साहित्य धारा है जिसके केन्द्र में वंचित मनुष्य की इच्छाओं और दुखों का रूपायन हुआ है ।

अन्य विधाओं की तुलना में हिन्दी उपन्यास साहित्य ने इस देश व्यापी दुरवस्था को एक गंभीर विषय के रूप में स्वीकार किया । प्रेमचन्द से लेकर आज तक के उपन्यासकारों ने इस विषय की गंभीरता को नष्ट नहीं होने दिया । उन्होंने दलित जीवन की विविध पहलुओं पर विचार किया । इनके दुरितपूर्ण जोवन पर विचार करते हुए हिन्दी के उपन्यासकारों ने असमानता की इस सामाजिक व्यवस्था को बदलने की चाह व्यक्त की और शोषित जन साधारण की जडता को तोडने की कोशिश की । इस कार्य में ये उपन्यासकार काफी मात्रा में सफल हुए भी । हिन्दी उपन्यास साहित्य के इस महत्वपूर्ण प्रयास पर आगे के अध्यायों में विचार किया जाएगा ।

निष्कर्ष

दलित एक विश्वव्यापी समस्या है । भारत में यह समस्या काफी ज्वलंत है । यहाँ के साहित्यकारों ने इसको साहित्य में जोवन्त बनाया । इन साहित्यकारों ने "दलित" शब्द का प्रयोग अर्थव्याप्ति के स्तर पर मानवतावादी दृष्टिकोण से किया । यहाँ दलित कोई जातिविशेष शब्द नहीं बल्कि दलित वह है, जो विभिन्न कारणों से पीडित, उपेक्षित एवं शोषित है । मराठी में यह चिंतन एक आन्दोलन के रूप में परिणित हो गया । अन्य भाषा साहित्य में दलित आन्दोलन उतना शक्तिशाली नहीं है । कहीं कहीं आन्दोलन की हल्की झलक दिखाकर दुर्बल हो गया । हिन्दी में अस्सी के बाद आन्दोलन का थोडा-सा प्रयास हुआ पर अब उसको कोई चर्चा नहीं के बराबर है । पर हिन्दी साहित्य दलित जीवन से समृद्ध है ।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक की रचनाओं में दलित और उसकी अभिव्यक्ति की एक अन्तःधारा निरंतर प्रवाहमान है । यह चेतना ही हिन्दी साहित्य के विकास के विभिन्न संदर्भों में दिखाई देती है । यह एक सामयिक प्रवृत्ति मात्र नहीं है । युग द्रष्टा कलाकार हमेशा पीड़ितों एवं शोषितों के पक्षधर रहे हैं । हिन्दी के ही नहीं विश्व साहित्य के संदर्भ में भी यही प्रवृत्ति हम देख सकते है । पाबलो नेरूदा, वोल सोयंका, मंडेला जैसी प्रतिभाओं ने जो कार्य किया है, उसके मूल में पीड़ितों का उद्धार ही लक्ष्य रहा है । इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि साहित्य में दलित का विशाल आयाम है । उस दृष्टि से उसका विवेचन-विश्लेषण करना अनिवार्य ही नहीं संगत भी है ।

अध्याय दो

हिन्दी उपन्यासों में दलित जीवन

उपन्यास और समाज

उपन्यास साहित्य की एक सशक्त विधा है । सामन्ती व्यवस्था के स्थान पर नवीन औद्योगिक व्यवस्था के साथ उपन्यास का जन्म हुआ । औद्योगिक सभ्यता ने सामन्ती समाज के सारे जीवन मूल्यों में क्रांति का वातावरण उपस्थित कर दिया । युगों से स्थापित सामाजिक, धार्मिक और नैतिक मूल्य टूटने लगे तथा आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था में आमूल परिवर्तन आरंभ हो गये । श्रम का मूल्य और महत्व बढा तथा इसके साथ मानवीय मूल्यों में भी वृद्धि हुई ।

उपन्यास इस नये युग की एक ऐसी आवश्यकता है जिसकी पूर्ति करने में युग को अन्य प्रचलित साहित्यिक विधाएँ असमर्थ है - "आज के जीवन के भाव-सत्य को अपनी समग्रता में, सभी स्तरों और आयामों में, व्यापकता और गहनता दोनों क्षेत्रों में अभिव्यक्त करने के लिए उपन्यास से अधिक समर्थ माध्यम दूसरा नहीं ।"[1]

जीवन की भाँति उपन्यास को भी किसी परिभाषा में बाँधना कठिन काम है । जीवन नित्य नई दिशाओं में विकसित हो रहा है और उपन्यास उसका साथ दे रहा है । उपन्यास मानव जीवन के विविध पक्षों को गहराई से देखने-परखने का सशक्त माध्यम है । यह बात

---

1. नेमीचन्द्र जैन - अधूरे साक्षात्कार - पृ. ।

महत्वपूर्ण है कि उपन्यास में अभिव्यक्त विचारों को उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि के बिना नहीं समझा जा सकता, लेखक के विचार और मान्यतायें सामाजिक परिस्थितियों की देन है । उपन्यास अपने युग की यथार्थ परिस्थितियों को बड़ी संवेदनशीलता के साथ चित्रित करता है । नई सभ्यता के साथ जनम लेकर उसकी प्रगति के साथ ही विकसित होते हुए भी आज उपन्यास किसी विशेष सभ्यता-संस्कृति और समाज व्यवस्था की वस्तु नहीं रह गया है । वरन् उसका क्षेत्र संपूर्ण मानव जीवन और समाज है ।

हिन्दी उपन्यास और दलित

विश्व उपन्यास की तुलना में हिन्दी उपन्यास साहित्य उतना समृद्ध तो नहीं है, फिर भी उसकी परंपराएँ विकासोन्मुख और स्वस्थ है । "परीक्षा गुरू" से लेकर आज तक की यात्रा को हम ज़रूर गौरवपूर्ण एवं गंभीर मान सकते हैं । "हिन्दी उपन्यास का आरंभ उपदेश, नीति और सुधारवादिता से हुआ था जो समाज, परिवार, व्यक्ति, नारी, यौनभावना, कुंठा आदि का चित्रण करके आज कृषक, श्रमिक तथा समाज के अन्य दलित और उपेक्षित वर्गों के चित्रण से विकसित हो रहा है।"[1]

मानव का बहुत बड़ा अंश सांस्कृतिक, आर्थिक और सामाजिक धरातलों पर कुचला गया है । कुचलने का यह दौर आज भी

---

1. कुँवरपाल सिंह - हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना - पृ. 23

ज़ारी है । इस वर्ग से साहित्य को जोडने का कार्य हिन्दी के दलित उपन्यासकारों ने किया । इनका उपन्यास दलित, पीडित और कुचले हुए आदमी की खुलो वकालत करता है । मार्क्सवादी शब्दावली इसी को "सर्वहारा" कहती है । दलित से हमारा तात्पर्य सभी तरफ से पीडित, शोषित अपने अधिकारों से वंचित सर्वहारा ही है । दलित जीवन की अभिव्यक्ति की दृष्टि से हिन्दी उपन्यासों पर विचार करते समय में इस सत्य को मानना पडता है कि प्रगतिवादी उपन्यासों में हो सर्वप्रथम दलित जीवन की अभिव्यक्ति हुई है ।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में दलित जीवन

हिन्दो उपन्यास विधा को तिलस्मी एवं ऐयारी के सनसनी खोज वातावरण से बाहर निकालकर मानव जीवन की यथार्थ समस्याओं से संबद्ध करने एवं उसे एक सशक्त विधा बनाने का कार्य प्रेमचन्द ने किया । इस दृष्टि से ये युग निर्माता लेखक है । उन्होंने उपन्यास साहित्य को यथार्थ को धरती पर खडा किया और उसे कला की ऊँचाइयों को छु लेने की शक्ति प्रदान की -"प्रेमचन्द सामाजिक उपन्यासकार है । सामाजिक उपन्यासकार इस माने में है कि अपनी रचनाओं में उन्होंने जीवन को सामाजिक संदर्भ में अंकित किया है । अपनी रचनाओं को लोक यात्रा के लिए आलोक स्तंभ के रूप में पेश किया है ।"[1] इसी यथार्थवादी रचनाकर से हिन्दी उपन्यास में दलित जीवन की अभिव्यक्ति का आरंभ भी होता है ।

प्रेमचन्द का युग विविध आन्दोलनों का युग था । उन

---

1. आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी - हिन्दी साहित्य का इतिहास - पृ. 197-98

सभी आन्दोलनों का प्रतिबिंब प्रेमचन्द के साहित्य में, विशेषकर उनके उपन्यासों में देखने को मिलता है । प्रेमचन्द ने दलित वर्ग की समस्याओं को सही परिप्रेक्ष्य में देखा । दलित विशेषत: हरिजनों के उत्पीडन में महाजनी सभ्यता और रूढ़िबद्धता की भूमिका को पहचानते हुए उन्होंने ऐसे साधन पैदा करने पर ज़ोर दिया जो उन्हें ऊपर उठने में सहायता दें । उन्होंने दलितों की पीडा का अनुभव किया, उनके शोषण की तीव्रता को गहराई को माप लिया तथा अपने उपन्यास के माध्यम से इनको स्थिति को सुधारने का पूरा प्रयत्न किया ।

प्रेमचन्द का "कर्मभूमि"(1932) दलित जीवन से संबंधित सशक्त उपन्यास है । इस उपन्यास का मूल उद्देश्य स्वतंत्रता आन्दोलन के व्यापक पक्ष का चित्रण करना था । इसके साथ ही शोषित जन साधारण के जीवन यथार्थ की ओर भी संकेत किया गया है । उपन्यास में प्रेमचन्द ने हमारे समाज की आर्थिक विषमता का सच्चा चित्र खींचा है । उन्होंने एक ओर नगर के पूँजीपति और गाँव के ज़मीन्दार वर्ग के ऐश्वर्य का स्वर्ग अंकित किया है और दूसरी ओर नगर के अछूत एवं गाँव के किसान के जीवन के खण्डहरों को दिखाया है । कर्मभूमि के मुरली का कथन इस विषमता का यथार्थ चित्र हमारे सामने रखता है -"किसी को तो महल और बँगला चाहिए, हमें कच्चा घर भी न मिले । मेरे घर में पाँच जनें हैं, उनमें से दो-चार आदमी महीने भर से बीमार है । उस काल कोठरी में बीमार न हो तो क्या हो । सामने से गंदा नाला बहता है । साँस लेने में नाक फटती है ।"[1]

---

1. प्रेमचन्द - कर्मभूमि - पृ. 267

अछूतोद्धार से संबंधित जो विचार प्रेमचन्द ने इस उपन्यास में प्रस्तुत किए है वे गाँधीवादी दृष्टिकोण से प्रभावित है । वर्ग, रंग, जाति आदि के आधार पर सामाजिक भेद भाव विश्व के और भी अनेक देशों में पाया जाता है । परन्तु भारत में धर्म के नाम पर करोडों लोगों को जिस प्रकार मध्ययुगीन दासों की भाँति जीवन बिताने को बाध्य किया गया है वैसी हालत दुनिया में और कहीं नहीं है । इस कलंक को धोने की दिशा में सक्रिय सामाजिक और राजनीतिक प्रयत्नों की झाँकी "कर्मभूमि" में मिलती है ।

इस उपन्यास में विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, और धार्मिक समस्याओं का एक साथ उद्‌घाटन किया गया है । अछूतों का मन्दिर प्रवेश, राजनीतिक प्रजा जागरण, सरकारी दमन, धार्मिक पाखण्ड, आर्थिक शोषण, किसानों की समस्या आदि अनेक प्रश्नों को उठाया गया है - "प्रेमचन्द की मौलिकता सदा समय के स्वर और आवश्यकता को पहचानने में रही है ।"[1]

इसी प्रकार आपके उपन्यास रंगभूमि (1924), गबन(1929), गोदान (1936), आदि में भी दलित जीवन के विविध पहलुओं पर विचार करने का प्रयास द्रष्टव्य है । रंगभूमि में सूरदास को जो जाति में चमार है उसे प्रेमचन्द ने नायक बनाया और "गबन" में दलित पात्र "देवीदान" के चरित्र को उदात्तता प्रदान की । गोदान में सीलिया और मातादीन

---

1. नरेन्द्र कोहली - प्रेमचन्द के साहित्य सिद्धांत - पृ. 62

के माध्यम से ब्राह्मणों व दलितों के बीच रोटी-बेटी का संबंध स्थापित किया और दलित जनसाधारण में अपने अधिकारों के प्रति अपेक्षित चेतना दिखाई । प्रेमचन्द के उपन्यासों में शोषित एवं पीडित जन साधारण के प्रति कोरी सहानुभूति ही नहीं, वरन् शोषक वर्ग के प्रति घृणा, आक्रोश आदि का भाव तथा शोषक के विरुद्ध सक्रिय संघर्ष भी व्यक्त किया है ।

अपने अधिकारों से वंचित किसान और मज़दूर प्रेमचन्द की सबसे अधिक चिंता का विषय रहा है । वे भारतीय किसान की दुर्दशा और शोषण से भली भाँति परिचित थे । उनके प्रमुख उपन्यासों का मुख्य विषय ही किसान और उनसे जुडी हुई समस्यायें है । अपने प्रारंभिक उपन्यास "वरदान" से लेकर अन्तिम उपन्यास "गोदान" तक यह चिन्ता उत्तरोत्तर तीव्र, गहरी और यथार्थवादी बनी रही । वे मानते थे कि स्वाधीनता ऐसा साधन है कि जिसके माध्यम से केवल विदेशियों के अत्याचार से ही नहीं, बल्कि अपने देशवासियों की शोषण रीति से भी मुक्त हो सकेगी । जाहिर है कि प्रेमचन्द की रचनाधर्मिता का मकसद समाज के दीन-हीन-जन समुदाय या दलितों को सुधारना तथा उन्हें समय की रफ्तार के साथ आगे बढने की क्षमता प्रदान करना ही है । इसलिए उनकी रचना का मर्म समाज के दलितों का जीवन-यथार्थ ही रहा है । यों हिन्दी उपन्यास साहित्य में दलित जीवन की अभिव्यक्ति की शुरूआत उपन्यास सम्राट प्रेमचन्द से ही होती है ।

प्रेमचन्द कालीन उपन्यासकार और दलित

प्रेमचन्द के समकालीन उपन्यासकारों ने दलित जीवन के चित्रण को अधिक प्रमुखता दी । "उग्र" ने अपना उपन्यास "बुधुआ की बेटी" (1927) दलितों से भी दलित जाति भंगी को लेकर लिखा तो निराला ने "कुल्लिभाट" (1951) में दलितोद्धार को लक्ष्य किया ।

"बुधुआ की बेटी" हिन्दी साहित्य का पहला उपन्यास है जिसमें समाज की सबसे पददलित और अछूत भंगी जाति के पात्र को नायिका का स्थान प्राप्त हुआ है । अवर्ण जातियों में सबसे नीची समझी जानेवाली जाति के चित्रण के साथ-साथ समानता और अपनी सेवा संबंधी अधिकारों के संघर्ष का चित्रण भी हिन्दी साहित्य में प्रथम बार इसी उपन्यास में हुआ है । "बुधुआ की बेटी "रधिया" इस उपन्यास की नायिका है । वह जाति में भंगी है । उसकी माँ हादसे का शिकार होकर हमेशा के लिए चली जाती है । अनाथ रधिया को समाज का सहारा नहीं मिलता । एक विलासी युवक उसे प्रेम की जाल में फँसाकर उसकी ज़िन्दगी को बरबाद कर डालता है । इसके प्रतिशोध में वह पुरुष वर्ग को अपने रूप यौवन पर पतंग की तरह जला डालना आरंभ कर देती है ।

इस कथानक को आधार बनाकर "उग्र" ने अपनी प्रखर आलोचक दृष्टि से पाखण्डी हिन्दु समाज का अच्छा तस्वीर उकेरा है । "प्रेमचन्द ने चमारों की दुर्दशा का चित्रण किया है लेकिन उग्रजी ने भंगी समाज को लेकर उच्चवर्ग के हिन्दुओं की खोखली नैतिकता पर व्यंग्य किए है ।"[1] वस्तुत: नारी और दलित जनसाधारण, दोनों को ही सदियों से सामाजिक दुरभिसंधी का शिकार होना पडा है । इन्हें सेवा के अतिरिक्त और कोई अधिकार अन्याय पूर्वक समाज व्यवस्था देने को तैयार नहीं है । इस समाज व्यवस्था के विरुद्ध लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से हिन्दी साहित्य में पहली बार पुरजोर आवाज़ बुलन्द की -"यद्यपि यहाँ पर अनेक ऐसे हिन्दु है जिनके यहाँ कुत्ते भी पले है और एक नहीं अनेक । भंगी समाज

---

1. डॉ. कुँवरपाल सिंह - हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना - पृ. 97

का मैला फेंकने के कारण पतित है और उसी मैले को खानेवाला कुत्ता शुद्ध है । वसुधैव कुटुंबकम् सिद्धान्त आदि के आविष्कारक इन हिन्दुओं का ऐसा पतन हो गया पादरी साहब ।"[1] इस उपन्यास की मूल भावना हरिजनोद्धार, दलित नारी के उन्नयन, पाखण्डी समाज के नरपशुओं की अनैतिकता तथा भ्रष्ट आचरण वाले पुरोहितों और फकीरों से संबद्ध है । इन सबके स्वाभाविक और यथाचित्रण दलित जीवन की यातनाओं की ओर संकेत करता है ।

सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला की रचनाओं में भी भारतीय सर्वहारा समाज की दारूण स्थितियों का चित्रण हुआ है । उनके विचारों का रूपायन आँखन देखी के आधार पर हुआ है । अतः निराला की कथात्मक कृतियाँ उनकी गहरी यथार्थवादी दृष्टि की परिचायक है । उनके उपन्यासों में ग्रामीण जीवन के ऐसे उपेक्षित पात्र है जिनकी तरफ कोई भी ध्यान नहीं देता । किन्तु उनमें सारी दुर्बलताओं के बावजूद अनेक मानवीय गुण भरे रहते हैं, जिनके कारण वे समाज के महत्वपूर्ण अंग हो जाते हैं ।

गरीबों के प्रति उन्हें गहरी सहानुभूति थी जाति, वर्ण और ऊँच-नीच की रूढिवादी विचार धारा से निराला को नफरत थी । निराला स्वयं हरिजनों को शिक्षित करने का व्यावहारिक कार्य किया करते थे । गाँव के चतुरी चमार के बेटे को वे पढाया करते थे । अपने उपन्यास "कुल्ली भाट" में उन्होंने अपनी ही तरह के एक पात्र कुल्ली को प्रस्तुत किया है । कुल्ली अछूत पाठशाला चलाता है । कुल्ली को उन्होंने समाज में

---

1. पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" - बुधुआ की बेटी - पृ. 68

क्रान्ति लाते हुए चित्रित किया है । वह एक मुस्लिम महिला से विवाह करने के कारण जीते जी भी और मृत्यु के पश्चात् भी सामाजिक दुराग्रह जनित बहिष्कार का शिकार होना पडता है । अछूतोद्धार का कार्य करते भी उसे किसी प्रकार का सहयोग कहीं से नहीं मिलता । संसार में कुल्ली और निराला का अनुभव एक-सा है -"संसार में साँस लेने का भी सुबीता नहीं, यहाँ बडी निष्ठुरता है, यहाँ निश्चल प्राणों पर ही लोग प्रहार करते है, केवल स्वार्थ है यहाँ वह चाहे जन सेवा हो या देश सेवा ।"[1] निराला इस प्रकार समाज के निचले वर्ग के जीवन सत्य की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं । उनके "अलका", "निरूपमा" आदि उपन्यास भी इस दृष्टि से स्मरणीय है ।

प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासों में दलित जीवन

प्रेमचन्द की दलित चेतना को और मुखरित एवं विकसित करने का कार्य प्रेमचन्दोत्तर उपन्यासकारों ने किया । इन उपन्यासकारों ने दलित जीवन की अभिव्यक्ति को बहुआयामित्व प्रदान किया । भारतीय समाज में विविध कारणों से पीडित और शोषित निम्नवर्ग की भावनाओं को अपनी कृतियों में स्थान देनेवाले प्रतिनिधि उपन्यासकारों में, यशपाल, चतुरसेन, अमृतराय, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी, राहुल सांकृत्यायन, वृन्दावनलाल वर्मा, फणीश्वरनाथ रेणु, भैरवप्रसाद गुप्त, उदयशंकर भट्ट आदि का नाम उल्लेखनीय हैं ।

यशपाल और निम्नवर्ग

हिन्दी साहित्य में यशपाल का कृतित्व असाधारण महत्व

---

1. निराला - कुल्ली भाट - पृ. 106

का है । सर्वहारा वर्ग की चिंता और सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष के कारण यशपाल को हिन्दी उपन्यास में प्रेमचन्द का उत्तराधिकारी माना गया है । अपने उपन्यासों में उन्होंने युग जीवन के यथार्थ को आकलित करने का प्रयत्न किया है । उनका उद्देश्य वर्तमान समाज की जड मान्यताओं के खिलाफ सतत संघर्ष करके शोषण रहित, वर्ग विहीन समाज की स्थापना करना ही है ।

यशपाल का "दिव्या" (1945) हिन्दी का चर्चित उपन्यास है । इसमें ऐसे प्रसंग पर्याप्त है जिनके माध्यम से लेखक ने हमारी उस सामाजिक व्यवस्था की आलोचना की है जिसमें मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण होता है । "दिव्या" में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में नारी की दासता वाले सामाजिक विधान की आलोचना और नर-नारी के स्वतंत्र एवं सह-भागी संबंधों की वकालत है ।"[1]

उपन्यास में दलित वर्ग का चित्रण दास, कामकार आदि के माध्यम से हुआ है । उपन्यास की नायिका दिव्या के जीवन वृत्त के माध्यम से यशपाल ने धर्म, वर्ण, आश्रम और सामन्तवाद के अंतर्गत धर्म के शोषण परक स्वरूप को उजागर करते हुए उनकी निरर्थकता सिद्ध की है । यशपाल का दूसरा उपन्यास "अमिता" (1956) सम्राट अशोक के कलिंग विजय से संबंधित है । इसमें मूल कथा के साथ राजकुमारी अमिता की दासी हिता और श्रेष्ठी विठ्ठल के दास मोद की प्रेमकथा का वर्णन है । इन पात्रों के माध्यम से तत्कालीन समाज में दासों की जो दशा थी उसका पर्दाफाश

---

1. डॉ. नवल किशोर - आधुनिक हिन्दी उपन्यास और मानवीय अर्थवत्ता - पृ. 132

किया गया है । दासी हिता की माँ पाजो के कथन से दासों की स्थिति का यथार्थ चित्र मिलता है -"बेटी, तू यह मूर्खता कर रही है । क्या तू मेरे और अपने प्राण संकट में फँसाना चाहती है । तू यह क्या रोग पाल रही है । तू राजकुल की दासी है । स्वतंत्र वेश्या नहीं है । प्रेम और प्रणय गायिकाओं और वेश्याओं के लिए विनोद होते हैं । कुल कन्याओं को विवाह में जिसे सौंप दिया जाता है उस से प्रेम करना होता है । और दासी का धर्म जो उसे खरीद लेता है उस की सेवा करना है । दासी की बेटी का काम आज्ञा पालन और सेवा है, प्रेम नहीं ।"[1] ये दलित लोग सर्वथा उपेक्षित और निराश्रित है उनका विक्रय वैसा ही होता है, जैसे पशुओं का । यशपाल ने इनको मूक वाणी को अपने उपन्यासों का विषय बनाया ।

आचार्य चतुरसेन और दलित जीवन

"उदयास्त" (1963) आचार्य चतुर्सेन शास्त्री का प्रथम उपन्यास है जिसमें स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद छोटे-बड़े के बीच असमानता को लेकर जो संघर्ष हुआ है, उसकी कहानी कही गई है । इस उपन्यास में मंगतू चमार और राजगढ रियासत के राजा रूद्र प्रताप नारायण सिंह के बीच समानता के लिए किया गया संघर्ष ही प्रस्तुत किया गया है । इसमें दलितों में अपने अधिकार का जो अवबोध जाग उठा है उसकी ओर भी इशारा किया गया है । उपन्यास के माध्यम से लेखक ने अछूतों को संगठित होकर समता के न्यायिक अधिकारों के प्राप्ति के लिए सक्रिय संघर्ष करने का आह्वान दिया है ।

---

1. यशपाल - अमिता - पृ. 57

सदियों से पीडित जनता में इस व्यवस्था के प्रति विद्रोह और सभ्यता के अच्छे कल की प्रतीक्षा है । उपन्यास में मंगत् चमार के शब्दों में यह द्रष्टव्य है । वह ऊँच-नीच व जात-पाँत के भेदभाव को स्वीकार नहीं करता । वह कहता है, "जात-पाँत का तो यहाँ कोई सवाल ही नहीं है, सवाल है - नागरिक अधिकारों का परस्पर व्यवहार का महाराज और दीवान साहब मुझ से माफी माँगे और भविष्य में ऐसी गलती न होगी यह वचन दे तो मैं, केवल आपको लिहाज से उन्हें माफ कर दूँगा ।" आगे कहता है -"हमारे करोडों भाईयों पर ये लोग सदियों से जुल्म करते आए है । हम लोग जो कल तक अछूत थे आज हरिजन बन गये है, सदियों से पददलित । अब तो हमें उबरना होगा अपने ही बल बूतों पर ।"[1] सदियों से सोए हुए दलित वर्ग को जगाने और उन्हें अपने अधिकारों के लिए लडने की शक्ति प्रदान करने के लिए इस प्रकार के आदर्शवादी उपन्यासों की सख्त ज़रूरत है ।

उनका उपन्यास "गोली" (1957) में मानवीय अधिकारों से सर्वथा वंचित दास-दासियों की पीडा को वाणी दी गई है । राजस्थानी रजवाडों के रनिवासों में दास-दासी गोले और गोली कहलाते थे । इस उपन्यास में ऐसी एक दासी की करूण कथा आत्मकथात्मक शैली में कही गई है । चम्पा इस उपन्यास की नायिका है । जिसका शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक शोषण उसके स्वामी द्वारा बडी निर्दयता से किया जाता है । गोले-गोलियों को भेड-बकरियों की तरह बेचा जा सकता है । उन्हें दहेज में दान दिया जा सकता है । दहेज में आकर गोलियों को अपने

---

1. आचार्य चतुर्सेन - उदयास्त - पृ. 36

स्वामी की उपपत्नी या रखैल की भाँति रहना पड़ता है । उनका विवाह उनकी ही जाति के किसी गोले से होता है लेकिन पति से पत्नी का शारीरिक संबंध प्राय: नहीं हो पाता था । वे शासक वर्ग के किसी पुरुष की पर्यकशयिन होती थी । इस स्थिति का मार्मिक वर्णन चतुर्सेन ने किया है । दलित जनता के प्रति उनकी सहानुभूति यहाँ स्पष्ट है । हिन्दी के दलित जीवन पर लिखे उपन्यासों में "गोली" का अपना महत्व अक्षुण्ण है ।

फणीश्वर नाथ रेणु और दलित

फणीश्वरनाथ रेणु के "मैला आँचल" (1954) से आँचलिक उपन्यासों की एक सशक्त विधा प्रारंभ होती है । "यह एक ऐसा विशिष्ट प्रारंभ है जिसने एक ओर तो एक नई विधा को मान्यता दिलाई और दूसरा उसी विधा में ऐसी कृति साहित्य को दी जिसने अछूती दुनिया का कोना ही उजागर नहीं किया अपितु नये प्रश्नों, नयी संभावनाओं एवं नयी दिशाओं का संधान किया ।"[1] इस उपन्यास में दलित जीवन का पर्याप्त चित्रण उपलब्ध है, इसमें अपने परिश्रम से आबाद की गयी धरती के अधिकार के लिए संथालों द्वारा किये संघर्ष और बलिदान का चित्रण है ।

"मैला आँचल" में मिथिला के मेरीगंज गाँव की कहानी के माध्यम से भारत वर्ष के समूचे गाँवों की कथा कही गयी है । "मैला आँचल" के कथाक्रम में चार पीढ़ी पूर्व संथाल लोग मेरीगंज की धरती पर आकर बसे थे ।

---

1. ज्ञानचन्द्र गुप्त - आँचलिक उपन्यास संवेदना और शिल्प - पृ. 32

ज़मीन्दारों ने उन्हें इसलिए बसाया था कि उनके घोर परिश्रम के बल पर बबूल, झरबेर और सोहुड से अटे पनखण्ड को लहलहाते खेतों में परिवर्तित किया जा सके । इन लोगों ने सैकडों बीघे भूमि आबाद की जो सरकारी कागज़ों में जंगल के रूप में अंकित होती रही -"... आज जहाँ सैकडों बीघे ज़मीन में मोती के दानों से भरी हुई गेहूँ की बालियाँ पुरवैया हवा में झूम रही है, धरती का वह टुकडा सर्वे के कागज़ात और नक्शे में जंगल के नाम से दर्ज हैं, जिस जंगल में बाघ का शिकार खेलने के लिए जिले भर का राजा और जमीन्दार ज़मा होते थे ।"[1]

ज़मीन के व्यवस्थापकों ने धरती पर संथालों का किसी किस्म का हक नहीं जमने दिया । जिस ज़मीन पर उनके झोंपडे है वह भी उनकी नहीं । इसलिए संथाल को संघर्ष की राह पर चलना पडता है । किन्तु भ्रष्ट और अन्यायी व्यवस्था से हुए संघर्ष में उनकी हार होती है । संथालों को अपनी ज़मीन नहीं मिलती, जेल मिलती है किन्तु यह संघर्ष विफल होकर भी व्यर्थ नहीं हो जाता । तहसिलदार विश्वनाथ प्रसाद के उत्तराधिकारी के रूप में डॉ. प्रशान्तकुमार संथालों को उनकी ज़मीन सौंप देता है । स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद दलित वर्ग को समता का जो अधिकार विवशता पूर्वक ही सही, उच्चवर्ग द्वारा दिया जाने लगा । उसका चित्रण भी "मैला आँचल" में हुआ है ।

अपने उपन्यास "परती परिकथा" (1961) में भी रेणु ने ग्रामीण दलित जीवन पर दृष्टि डाली है । "स्वातंत्र्योत्तर ग्राम जीवन के

---

1. फणीश्वरनाथ रेणु - मैला आँचल - पृ. 39।

बदलते संदर्भों में व्यक्तिमन को घेरती भ्रष्ट राजनीतिक गुटबन्दी, आर्थिक विपन्नताएँ, रोज़ी-रोटी के अनुत्तरित प्रश्न, सरकारी तंत्र की स्वार्थी मनोवृत्ति, आम आदमी की व्यथा का गहरा अहसास इस धरती की कृति से होता है ।"[1] इसमें बिहार के पूर्णिया जिला के परानपुर गाँव तथा उसके आस-पास मीलों दूर फैली परती भूमि के पुनरुद्धार की कथा है उससे जुडा है इस क्षेत्र का लोक जीवन । इसमें कई पात्र और वर्ग ऐसा है जो दलित है । इन दलितों में समय के साथ आनेवाली चेतना के सुस्पष्ट चित्र उपन्यास में उपलब्ध है । सवर्ण सुवेशलाल के साथ महीचन चमार की पुत्री मलारी का प्रेम और तत्पश्चात् कचहरी विवाह एक ऐसा ही चित्र है । विस्तार रूप से नहीं तो भी दलित जीवन पर प्रकाश डालने की दृष्टि से "परती परिकथा" का अपना स्थान है ।

उदयशंकर भट्ट और दलित वर्ग

उदयशंकर भट्ट यथार्थवादी उपन्यासकार है । उनका उपन्यास "सागर, लहरें और मनुष्य" (1955) बंबई के निकट सागर तट पर स्थित बरसोवा के जन जीवन का यथार्थ चित्रण है । बरसोवा मछुओं की बस्ती है । रत्ना जो इस उपन्यास की नायिका है, मछुओं की बस्ती में पैदा होती है, पलकर बडी होती है और बडी होकर वह नगरीय जीवन से आकृष्ट होती है । अन्त में वह नर्स बनकर डॉक्टर का हृदय जीतने में सफल होती है । उपन्यास में लेखक ने मछुओं की गरीबी का जो चित्रण किया है, वह बहुत मार्मिक है -"इठ्ठा के घर चार दिन दिया जलाने के लिए किरोसिन नहीं था । उसकी माँ तीन दिन से भूखी थी । इठ्ठा की इच्छा चिउडा खाने

---

1. ज्ञानचन्द गुप्त - आँचलिक उपन्यास - संवेदना और शिल्प - पृ. 48

की हुई तो जागला कहता है, चिउडा क्या हम लोग कू खाने की चीज़ है ? अमीर आदमी खाताय चिउडा भजिया ।"[1]

यौन संबंधों को दृष्टि से इस बस्ती के सभी स्त्री-पुरुष पूर्णत: स्वच्छन्द और स्वतंत्र है किन्तु उनकी यह स्वच्छन्दता उनका शौक नहीं एक विवशता है । पुरुष मछलियाँ मारते हैं और स्त्रियाँ अस्मत् का व्यापार करती हैं फिर भी वे गरीबी से मुक्त नहीं होते । इसलिए स्त्रियाँ शरीर व्यापार को शारीरिक श्रम की तरह स्वीकार कर लेती हैं । जहाँ पेट की आग को इन्धन देने के लिए स्त्री को अपनी इज़्ज़त बेचनी पडती है, वहाँ यौन संबंधों में स्वच्छन्दता का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं हो सकती । बरसोवा की मछुआ-बस्ती इसी तथ्य को साक्ष्य देती है । लेखक ने इस उपन्यास के माध्यम से समाज द्वारा उपेक्षित उस वर्ग की व्यथा को वाणी दी है जो स्वयं को इन नरकीय परिस्थितियों से मुक्त नहीं कर पाते ।

भैरवप्रसाद गुप्त और दलित जीवन

भैरवप्रसाद गुप्त ने अपने उपन्यास "सती मैया का चौरा" (1954) में स्वतंत्रता पूर्व के भारत और स्वतंत्रता के पश्चात् के भारत में सिर उठाती स्वार्थपरता, आपाधापी और चारित्रिक ह्रास का चित्रण किया है । इस उपन्यास में कैलसिया और बसमतिया नामक दलित नारियों का चित्रण उदात्त चरित्रवाली महिलाओं के रूप में हुआ है । कैलसिया और बसमतिया

---

1. उदयशंकर भट्ट - सागर लहरें और मनुष्य - पृ. 85

अनपढ़ है और जाति में निम्न हैं । फिर भी मन्ने जैसा एक एम.ए.पास विवेकशील और विचारशील युवक स्वयं को उनके पास बौना पाता है । कैलसिया और बसमतिया के चरित्र के माध्यम से लेखक ने यह प्रतिपादित किया है कि प्यार और अपनत्व की भावना कहीं शेष रही है तो इन पीड़ित और प्रताड़ित वर्गों में ही । शेष सब तो स्वार्थ के हाथों में बिक गए हैं ।

जीवन के प्रति जो आस्था और प्रेम के प्रति जो उदात्तता दलित जनसाधारण मे है वह अनूठी है - "इस उपन्यास में जहाँ भी दलित पात्रों का चित्रण हुआ है, उस चित्रण का मूल स्वर ठीक वैसा ही रहा है, जैसा रांगेय राघव के "कब तक पुकारूँ" में कि मनुष्यता कहीं शेष रही है तो इन दीनों-दलितों में ।"[1] यों उपन्यासकार ने दलितों की सद्भावना पर अपनी आस्था व्यक्त की है । उच्चवर्ग अपनी स्वार्थता के कारण मानवता से कहीं दूर खड़े हैं । लेकिन दलित वर्ग तो अपने अधिकारों के साथ ही दूसरों के अधिकारों के भी हिमायती है । लेखक ने दलितों की इस उच्च मानसिकता पर प्रकाश डाला है । "सतीमैया का चौरा" में उच्चवर्ग और दलित वर्ग के बीच किसी प्रकार के संघर्ष का चित्रण नहीं मिलता । वैयक्तिक स्तर पर इनके बीच कोई संघर्ष दिखाई देता है तो वह नैतिक मूल्यों को लेकर है । उपन्यासकार का यही विश्वास है कि दलित जनता दीन हीन होकर भी नैतिक मूल्यों के प्रति आस्थावान है ।

---

1. कुसुम मेघावाल - हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग - पृ. 106

नागार्जुन और दलित

नागार्जुन हिन्दी के ख्यातिप्राप्त प्रगतिशील उपन्यासकार है । उन्होंने दलित जनता के जीवन संघर्ष पर अपनी दृष्टि डाली है । उन्होंने इस संघर्ष को अपने देश की माटी से जोडने की कोशिश की है । नागार्जुन ने सामान्य जनता के सामान्य दुख-दर्द को उनकी अनुभूतियों पर खुद को आरोपित किये बिना सीधी सरल लेकिन प्रभावशाली भाषा में व्यक्त किया । याने अभावग्रस्त लोगों के जीवन का, उनकी समस्याओं का यथार्थ चित्र ही नागार्जुन ने प्रस्तुत किया है ।

नागार्जुन ने समाजवादी जीवन दर्शन के आधार पर रूढिगत सामाजिक एवं राजनीतिक शोषण तथा वर्ग वैषम्य के विरुद्ध तीव्र विरोध प्रकट किया है । साथ ही उन्होंने ग्रामोन्नति का रचनात्मक, प्रगतिशील समाधान प्रस्तुत किया है । इस दृष्टि से इनके "रतिनाथ की चाची" (1948), "बलचनमा" (1952), "नई पौध" (1954), "बाबा बटेसरनाथ"(1954), "दु:खमोचन"(1956), "हीरक जयंती"(1958), "कुंभीपाक"(1960), "उग्रतारा"(1964), "हमरतिया"(1968) आदि प्रमुख हैं ।

दलित जीवन यथार्थ को उजागर करने की दृष्टि से आपका "बलचनमा" काफी महत्व रखता है । इस उपन्यास में सामन्तवादी

शोषण और खेतिहर मज़दूर की दयनीय अवस्था का यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो मर्म को छू लेता है । उपन्यास का नायक बलचनमा अभागे बाप का अभागा बेटा है, जो सामन्ती शोषण की चक्की में पिसने के लिए ही पैदा हुआ है । वह अपनी आँखों के सामने जमीन्दारी अत्याचारों के कारण पिता को दम तोडते देखा है । बलचनमा दुहाई सरकार, दुहाई सरकार कहते हुए गिडगिडाती तथा उसके पैर पकडती दादी के दीनतापूर्ण जीवन से भी परिचित है ।

जीवन के कटु यथार्थ ने बलचनमा को क्रांतिकारी बना दिया । यह बलचनमा का विद्रोह नहीं बल्कि पुरानी पीढी के मूक समर्पण के प्रति युवा पीढी की प्रतिक्रिया है । कुँवरपाल सिंह के शब्दों में -"बलचनमा प्रेमचन्द का होरी नहीं जो प्रत्येक परिस्थिति के समक्ष समझौता करता है, सब कुछ सहते-सहते निराश हो जाता है और निराश जीवन में अपनी काया को शव की भाँति ढोता फिरता है । उसमें हौसला है, मर्दानगी है, वर्ग संगठन की समझ है, जूझकर उत्सर्ग करने की चेतना है पर झूठे मूल्यों और बन्धनों को झेलने की भीरुता नहीं ।"[1]

बलचनमा अपने पुरखों की भाँति कोरा आस्थावादी नहीं है । तत्कालीन स्थिति के प्रति उसमें विद्रोह की भावना है - "भूख के मारे दादी और माँ आम की गुठलियों का गूदा चुर-चुर कर फाकती है, यह भी भगवान ठीक करते हैं । और सरकार आप कनक जीर और तुलसी फूल से

---

1. कुँवरपाल सिंह हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना - पृ. 159

खुशबूदार भात, अरहर की दाल, परवल की तरकारी, घी, दही, चटनी खाते हैं, सो भी भगवान की ही लीला है ।"[1] बलचनमा के ये शब्द सीधे शोषण प्रक्रिया पर करारा व्यंग्य है । इस संबंध में वह स्पष्ट कहता है - "फूल बाबू के बाप इन्हीं गरीबों की जमीन-जायदाद हडप-हडप कर औकात वाले बने हैं ।"[2] बन्धुआ मज़दूरों पर होनेवाले अत्याचारों के विरुद्ध एक सामूहिक आवाज़ है - बलचनमा ।

बलचनमा में लेखक ने स्पष्ट कर दिया है कि सामन्ती परिपीडन से शोषित जन, सामन्ती मान्यताओं को नकार रहा है । समाजवादी मान्यताओं को नकार रहा है । समाजवादी विचारधारा को आंधी पुरातन मान्यताओं को उखाडे दे रही है । समाजवादी चेतना अनेक मोर्चों पर जूझ रही है । उसकी विजय हो रही है क्योंकि अनुदिन उसके समर्थक बढ रहे हैं । साथ ही बलचनमा जैसे वर्ग-सचेतन सेनानी हताहत भी होते हैं । बलचनमा धैर्य और आस्था के साथ बिना रुके मंजिल तक पहुँचने का संदेश देता है । साथ यह भी आगह करता है कि बिना सही चेतना, संगठन और संघर्ष के गरीबों की कभी मुक्ति नहीं हो सकती ।

भारत की अस्सी प्रतिशत जनता गरीबी में जीवन व्यतीत कर रही है । जनता की मूलभूत आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं हो पा रही है । परिश्रम के बाद भी देश का नागरिक संतुष्ट नहीं उनके दामन में अनेक समस्याएँ हैं, कहीं सामाजिक वैषम्य तो कहीं आर्थिक टूटन । इस प्रकार अभावग्रस्त

---

1. नागार्जुन - बलचनमा - पृ. 46
2. वही - पृ. 53

जीवन बितानेवाले लोगों के प्रतिनिधि के रूप में उपन्यास में बलचनमा को प्रस्तुत किया है ।

इस प्रकार "बलचनमा" सामाजिक व्यवस्था के प्रति एक विद्रोह है । अभावग्रस्त लोगों की मानसिक तनाव को नागार्जुन ने उपन्यास में सशक्त रूप में चित्रित किया है । उपन्यास में उन्होंने सिर्फ एक व्यक्ति को नहीं पूरे देश को पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है । जीवन जीने के अधिकार से वंचित लोगों के संघर्ष से वे परिचित है । उसकी तीव्रता को इसी कारण से लेखक सशक्त रूप में प्रस्तुत कर सके हैं ।

संक्षेप में पूर्ण रूप से दलित जीवन का यथार्थ है बलचनमा । बलचनमा ने देश के ऐसे लोगों का प्रतिनिधित्व किया है जिनका भरपूर शोषण किया गया है, जिन्हें दमित किया गया है, जिनके घर परिवार की बहू-बेटियों को वासना का शिकार बनाने के प्रयत्न किया गया है । पूरे उपन्यास निम्नवर्ग के अभाव ग्रस्त, पतित जीवन यथार्थ पर आधारित है और उनके जीवन संघर्ष पर आधारित है । रामदरश मिश्र के शब्दों में - "पूरे उपन्यास में किसान का दुःख दर्द और संघर्ष व्याप्त है । तथा मानवीय अधिकारों को जकड़नेवाली शोषक जर्जर मान्यताओं, वर्ग व्यवस्थाओं और परंपराओं पर कलात्मक प्रहार है ।"[1]

---

1. डॉ. रामदरश मिश्र - हिन्दी उपन्यास एक अंतर्यात्रा - पृ. 95।

ऐतिहासिक उपन्यास और दलित

वर्तमान सामाजिक जीवन में मौजूद ऊँच-नीच, छुआ-छूत, वर्ग, वर्ण वैषम्य और अन्यायपूर्ण अमानवीय विषम-सामाजिक व्यवस्था के उद्भव, विकास एवं रूढिबद्ध होने की निरंतरता के सहज दर्शन हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में द्रष्टव्य है । राहुल सांकृत्यायन, वृन्दावनलाल वर्मा, हज़ारीप्रसाद द्विवेदी आदि के उपन्यासों का विश्लेषण इस दृष्टि से समीचीन रहेगा ।

राहुल सांकृत्यायन

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में महापंडित राहुल सांकृत्यायन के "सिंह सेनापति"(1942) की अलग पहचान है । उन्होंने वर्तमान को अभिव्यक्त करने के लिए अतीत की सहायता ली है । फल्गुयान के मालिक कृष्णा के जीवन वृत्तान्त से संबंधित है, उनका उपन्यास "सिंह सेनापति" । उपन्यास में यत्र-तत्र सामान्य कर्मकारों व जाति-वर्ण व्यवस्था का वर्णन किया गया है । राहुल जी ने प्राचीन गणराज्यों को जाति प्रथा से मुक्त दिखाते हुए एक आदर्श समता मूलक व्यवस्था की परिकल्पना की है, "उत्तर कुरू की देवजाति में ऊँच-नीच, दस्यु-अदस्यु, जाति-पाँति आदि की कोई व्यवस्था न थी । उत्तरापथ के गणों में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि भेद नहीं देखे जाते । उसके यहाँ देवताओं की पूजा प्रार्थना के लिए अलग-अलग समुदाय निश्चित नहीं है, किन्तु वहीं इन राजाओं के यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि के भेद बनाए गए हैं । यह भी राजा के स्वेच्छाचारी शासन के सुभीते के लिए बनाए गए है ।"[1]

---

1. राहुल सांकृत्यायन - सिंह सेनापति - पृ. 100

आपका उपन्यास "जय यौधेय" (1944) नायक जय की यात्राओं, उसके पराक्रमों तथा अपने गण के लिए की गयी सेवाओं से संबद्ध है । जय यौधेयों, दासों तथा कर्मकारों में कोई भेद नहीं रखना चाहता था । वह अपने सैनिक अधिकारियों के साथ खेतों में काम करता था । सभी यौधेय एक दूसरे को एक ही परिवार के मानते थे । यौधेय गण में राजा, सेनापति, व सैनिक अधिकारी केवल कर्तव्य भर के लिए चयनित होते थे । वे लोग राजा व सेनापति के ऐश्वर्य से नहीं सामान्य जन की तरह रहते थे और कृषि तथा पशुपालन से अपना निर्वाह करते थे । जय के प्रयत्नों से यौधेय गण में दासों व कर्मकारों को निम्न मानने की प्रवृत्ति समाप्त होती है तथा उन्हें समान अधिकार प्राप्त होता है । इस उपन्यास में राहुल सांकृत्यायन ने गण-व्यवस्था को आधार बनाकर आदर्श समाज का चित्रण किया है ।

वृन्दावनलाल वर्मा:

ऐतिहासिक उपन्यासकार वृन्दावनलाल वर्मा के उपन्यासों में भी दलित जीवन पर प्रकाश डालने का सशक्त प्रयास हुआ है । उन्होंने ऐसे कुछ पात्रों को अपने उपन्यासों में प्रस्तुत किया है जो सामाजिक स्तर पर दलित है । वर्माजी ने ऐतिहासिक इतिवृत्त से भूतकालीन आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक यथार्थ को खोज निकालकर वर्तमान की ओर इशारा करने का कार्य किया है । उनकी रुचि का विषय जन साधारण है । उसकी संस्कृति और मानस का वे राजनीतिक परिस्थितियों के संदर्भ में अध्ययन करते हैं । "झाँसी की रानी" (1946), "मृगनयनी" (1957) आदि उपन्यासों में जन साधारण के प्रतिनिधि पात्र मौजूद हैं । "झाँसी की रानी" में दो दलित पात्र आए हैं - झलकारी कोरिन और नारायण शास्त्री की अछूत

प्रेमपात्री छोटी । झलकारी का चित्रण उपन्यास में एक वीरांगना के रूप में हुआ है । जाति से वह कोरिन थी पर रानी का उससे बड़ा प्यार था । उनके बीच ऊँच-नीच का कोई भाव नहीं था । साथ ही यह उपन्यास इस तथ्य को भी उजागर करता है कि दलित उस समय भी अपने अधिकारों से वंचित थे । साथ ही वे उन अधिकारों को पाने के लिए संघर्ष कर रहे थे ।

आपके उपन्यास "भुवन विक्रम"(1957) में अयोध्या के राजा रोमक के राज्य-च्युत होने और पुनः राज्य प्राप्त करने की कथा के समानान्तर ही शूद्र कपिंजल की कथा चलती है । इसमें ऋषि धौम्य तथा मेघ का वर्णन भी आता है । ऋषि धौम्य वर्ण को महत्व न देकर कर्म को महत्व देते है और अपने आश्रम में शूद्र कपिंजल को आश्रय दे देते है - जबकि ऋषि मेघ शूद्रों की छाया भी सवर्णों पर नहीं पडने देते । इस प्रकार इस उपन्यास में रूढ होती हुई वर्ण व्यवस्था का पर्याप्त चित्रण मिलता है । उपन्यास जिस काल की पृष्ठ भूमि पर लिखा गया है, उसमें श्रमिक और अछूत में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगत नहीं होता । कहा जा सकता है, इसमें सर्वहारा वर्ग ही है जिसके पास अपना श्रम बेचकर पेट पालने के अतिरिक्त कोई सामर्थ्य और संपदा नहीं है । उपन्यास में दासों व शूद्रों के साथ किये जानेवाले अमानवीय व्यवहार व अत्याचार का पर्याप्त चित्रण किया गया है ।

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी

आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने चार उपन्यासों की रचना करके हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में विशिष्ट स्थान प्राप्त

कर लिया है । उनके बहुचर्चित उपन्यास है "बाण भट्ट की आत्मकथा" (1952) "बाण भट्ट की आत्मकथा" द्विवेदीजी का पहला उपन्यास है, जो हिन्दी साहित्य के कुछ इने-गिने उपन्यासों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है ।"[1] इस उपन्यास की प्रमुख पात्र निपुणिका अस्पृश्य जाति की है । यह संकेत लेखक एक दो स्थानों में देता है । इसके अतिरिक्त कहीं भी दलितों, अस्पृश्यों का कोई संकेत नहीं मिलता । न कहीं उपन्यास में किसी स्थान पर निपुणिका को अस्पृश्य होने की वजह से किसी प्रकार की घटना का सामना करना पडता है -"लेखक ने अस्पृश्य जाति की निपुणिका को प्रमुख पात्र के रूप में स्थान देकर उसे गौरव प्रदान किया है ।"[2] इससे स्पष्ट होता है कि "बाण भट्ट" के समय अस्पृश्यता उतनी रूढ नहीं हुई थी । याने अपने कर्म के अनुसार कोई भी शूद्र वैश्यत्व प्राप्त कर सकता था ।

द्विवेदीजी का दूसरा उपन्यास "चारुचन्द्र लेख" (1965) महाराज सातवाहन तथा उनकी सिद्ध योगिनी रानी चन्द्र लेखा के समर अभियानों पर आधारित है । इस उपन्यास में नाटी माता, मेन सिंह, संभल, जल्हण, सुखदेवी, हरिचन्द्र आदि पात्र ऐसे हैं, जिनकी गणना दलित वर्ग में की जा सकती है । सुखदेवी और हरिश्चन्द्र का तो उपन्यास में उल्लेख भर होता है । अन्य पात्रों का चरित्रांकन लेखक ने उदात्त रूप में किया है । तत्कालीन जातीय व्यवस्था और पारस्परिक ऊँच-नीच का अंकन भी द्विवेदीजी ने इस उपन्यास में किया है । "उपन्यास के एक पात्र संभल का कथन इस सत्य की ओर संकेत करता है कि इस काल में नीच

---

1. डॉ. सुरेश सिन्हा - हिन्दी उपन्यास - पृ. 478
2. कुसुम मेघावाल - हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग - पृ. 204

जातियों में भी परस्पर ऊँच-नीच का भाव प्रचलित हो गया था । भंभल अपना परिचय देते समय महाराज सातवाहन को बतलाता है -" नट हूँ महाराज । छोटी जात का नहीं कारूनट हूँ । इसी गाँव में रहता है । लेकिन हम लोगों का गाँव-गिराव तो कुछ होता नहीं । घूमते-फिरते है । हम लोग मतल विद्या और व्यायाम कौशल से लोगों का मनोरंजन करते हैं और हमारी स्त्रियाँ नाच गाकर बडे लोगों को सेवा करती है । और नट से हम अलग है । वे छोटी जाति के होते है, हम लोग राजपूत हैं । नाटो माता तो हमारी ही जाति की है न महाराज । उन्होंने हमारे कुल को तार दिया है ।"[1] यों द्विवेदीजी निम्न वर्ग के जीवन की कुछ समस्यायें हमारे सामने रखते हैं ।

रांगेय राघव

रांगेय राघव समाजवादी उपन्यासकार है । उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यास के क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है । इनके उपन्यासों से आपके प्रगतिशील दृष्टिकोण का परिचय मिलता है । पूँजीवाद, शोषण एवं बुर्जुआ मनोवृत्ति का तीव्र विरोध उनके उपन्यासों का मूल स्वर है । "मुर्दों का टोला" (1948) आपका बृहद उपन्यास है । इस उपन्यास का वर्ण्य विषय राजा-सत्ता का प्रादुर्भाव, गणों का विनाश, आर्येतर सभ्यता का उदय आदि हैं ।

उपन्यास में लेखक ने दास-प्रथा की अमानवीयता की ओर इशारा किया है । इन पर होनेवाले अत्याचार का मार्मिक वर्णन

---

1. आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - चारु चन्द्रलेख - पृ. 143

उपन्यास में उपलब्ध है -"गुलाम का रक्त पृथ्वी पर टपक गया किन्तु अधिकार को भयानक मार नहीं रूकी । अन्य दासों की धमनियों में जैसे रक्त जम गया । उनके रोंगटे खड़े हो गये । अपाप की बड़ी देह लहूलुहान हो गई थी । वह एक बार भी नहीं कराहा । फिर भी एक बार अपाप के दोनों हाथ फैल गए और वह लड़खड़ाकर मुँह के बल पर धरती पर गिर पड़ा । घृणा से मणिबन्ध ने कोड़ा फेंक दिया और कहा निकल जाओ । अपाप का सिर अपने ही रक्त पर टिक गया ।"[1] वस्तुत: ये दास तत्कालीन दलित थे । दास प्रथा की अमानवीयता के चित्रण से रांगेय राघव ने तत्कालीन दलित अवस्था पर ही प्रकाश डाला है ।

रांगेय राघव का उपन्यास "प्रतिदान" (1952) महाभारत कालीन पौराणिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया उपन्यास है जिसमें तत्कालीन समाज का यथार्थ उभर आया है । उपन्यास का प्रमुख पात्र द्रोणाचार्य है । इसमें उसके दरिद्र से वैभवशाली बनने की कथा कही गई है । यहाँ लेखक का उद्देश्य तत्कालीन समाज का चित्रण करना प्रमुख रहा है । अत: सहज ही उपन्यास में दासों, शूद्रों तथा आर्येतर जातियों का भी चित्रण आ गया है । इसके साथ ही जातियों के परस्पर मिश्रण तथा वर्णाश्रम एवं तत्कालीन राजनीतिक विचारधाराओं पर भी लेखक ने प्रकाश डाला है । श्रमसाध्य कार्य घर के भीतर दासों और घर के बाहर शूद्रों से लिए जाते थे । गुरूकुल और आचार्य के आश्रम भी इसके अपवाद न थे । उपन्यास में जीवल, शलिपिंड, काक आदि दास एवं भैध्या, मारिषा आदि दासियों का वर्णन है । उस समय दास-दासी सभी संपन्न गृहों में विद्यमान थे ।

---

1. रांगेय राघव - मुर्दों का टीला - पृ. 188-189

उपन्यास में ब्राह्मणी के शूद्र के साथ शारीरिक संबंध स्थापित होने पर उसके पर्य्यच्युत होने का प्रसंग वर्णित है । यह प्रसंग तत्कालीन समाज व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था पर प्रकाश डालता है । इसी प्रकार सामाजिक वैषम्य पर विचार करनेवाले अनेक प्रसंग उपन्यास में उपलब्ध हैं । ऐसा एक प्रसंग है एकलव्य का, जिसे द्रोणाचार्य अपना शिष्य बनाकर धनुर्विद्या सिखाने से इनकार कर देते हैं । किन्तु वह श्रद्धा सहित उन्हें गुरू मानकर अकेला ही धनुर्विद्या का अभ्यास कर लेता है । अर्जुन से भी श्रेष्ठ धनुर्धर बन जाता है । तब गुरू गुरूदक्षिणा में एकलव्य के दाहिने हाथ का अंगूठा माँग लेते हैं ।

निषाद राजा हिरण्यधनु के पुत्र एकलव्य के प्रति यह अन्यायपूर्ण व्यवहार गुरू, द्रोणाचार्य के चित्त को बहुत उद्विग्न कर देता है । अपनी उद्विग्नता को वे जब अपनी पत्नी कृपि के सामने प्रकट करते हैं तो कृपि उनसे इतना निर्मम बनने का कारण पूछती है । इस प्रसंग का जो वर्णन उपन्यास में हुआ है वह दलित-जीवन यथार्थ ही है ।

द्रोण के कुछ न बोलने पर कृपि कहती है -"उस लड़ु ने द्रोण का नाम अपने बलिदान से लिखा है । आपने तो उसे सदैव केलिए नष्ट कर दिया । आपने विद्या के साथ पाप किया है । आपने प्रतिभा को रोका है । आपने ज्ञान की हत्या की है । आपने अपने वचन के लिए मनुष्यता का नाश किया है ।"

हठात् द्रोण का स्वर उठा । "निषाद आर्य की समता करेगा ?"

कृपि चौंकी

"वह निषाद था, जानती हो ?" द्रोण ने पूछा ।

"तो मनुष्य नहीं था ?"

"तुम नहीं समझोगी कृपि । स्त्री हो स्त्री । तुम नहीं जान सकती । यह मर्यादा पुरुषों को है । कर्तव्य के लिए कठोर हृदय चाहिए ।"

कृपि स्तंभित हो गई ।

द्रोण ने कहा "निषाद म्लेच्छ, अनार्य । शबर । किरात ।, नाग । कल यह सिर चढ़ेंगे । इन्हीं के नाश के लिए ही ब्राह्मण और क्षत्रिय ने जन्म लिया है ।"

कृपि ने देखा, मनुष्य को छीन ले गया । वहाँ केवल एक कठोर ब्राह्मण खड़ा था ।"[1]

जाहिर है कि इस उपन्यास में आर्यों के मन में आर्येतर लोगों के प्रति जो अमानवीय ऊँच-नीच भाव वर्तमान है उसका मार्मिक चित्रण हुआ है । यह भी नहीं रांगेय राघव ने समकालीन दलित-जीवन के यथार्थ की ऐतिहासिक निरंतरता की ओर भी इशारा किया है ।

निष्कर्ष

सन् साठ के पहले के हिन्दी उपन्यासों की विस्तृत चर्चा के उपरांत इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि प्रेमचन्द कालीन उपन्यासों में ही

---

1. रांगेय राघव - प्रतिदान - पृ. 182

सबसे पहले दलित जीवन की अभिव्यक्ति हुई है । दलित जन साधारण की पक्षधरता, प्रेमचन्द की अपनी खासियत है । प्रेमचन्द के उपन्यासों में शोषित निम्नवर्ग के अभावग्रस्त जीवन का यथार्थ चित्र उपलब्ध है । प्रेमचन्द युगीन अन्य उपन्यासकारों तथा परवर्ती रचनाकारों ने प्रेमचन्द से प्रेरणा पाकर अपनी रचनाओं में दलित जीवन और उनकी समस्याओं को प्रमुखता दी है । गाँव, नगर और महानगरों में इनकी दुर्गति का चित्रण इन उपन्यासकारों ने किया है । असमानता और शोषण की दुरवस्था को बदलने का दृढ संकल्प इन उपन्यासों के सृजन की तह में मौजूद है ।

साठोत्तर उपन्यासों में दलित जीवन की अभिव्यक्ति काफी सशक्त रूप में हुई है । ये उपन्यास इस सत्य का साक्ष्य हैं कि निम्नवर्ग हमेशा मुख्य धारा से अलग ही रहे हैं । उनका जीवन पूर्ण रूप से तिरस्कृत है । व्यवस्था ने इनका तिरस्कार करते हुए श्रम और मानवता को चुनौती दी है । अपने अधिकारों से वंचित ये मनुष्य प्राणी जिन्दगी की लडाई में हार जाती हैं । इनकी मूक वेदना को वाणी देने का प्रयास साठोत्तर उपन्यासकारों ने किया है ।

संसार की कोई भी शक्ति दलित-जन साधारण का साथ देते दिखाई नहीं देती । सत्ता, धर्म, राजनीति सब इनकी समस्याओं की ओर, पीडाओं की ओर नज़र अन्दाज़ करते हुए दिखाई देते हैं ।

साठोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों ने इस सत्य का पर्दाफाश किया है । वे इस मुद्दे पर एक मत हैं कि दलितों की वर्तमान स्थिति के लिए धर्म, सत्ता, राजनीति आदि समान रूप से जिम्मेदार हैं । इसलिए उनके उपन्यास इन शक्तियों के विरुद्ध अपना सख्त विद्रोह बुलन्द करते हैं । आगे के अध्यायों में दलितों पर इन शक्तियों द्वारा विभिन्न संदर्भों में किए गए अत्याचारों एवं अन्यायों पर रचे गए उपन्यासों का विश्लेषण किया जाएगा ।

अध्याय : तीन

दलित जीवन और सत्ता

सत्ता और भारतीय समाज

अंग्रेज़ गए और भारत स्वतंत्र हुए । पर अत्याचारी और शोषक रंग बदलकर समाज में पलते रहे । कहीं कहीं अत्याचारी अदृश्य है पर ज़ोर जुल्म जारी है । इस शोषण और अत्याचार के शिकार दलित जन-साधारण के अधिकारों की रक्षा का दायित्व जिन पर निर्भर है वे ही उन अत्याचारी शक्तियों को साथ देते दिखाई देते है । "संविधान द्वारा जीने के सारे अधिकार, सम्मान पूर्वक जोने के अधिकार सभा सम्मेलनों में डींग हाँकने के विषय बन गए । मूल समस्या को जड़ें और गहरी गहराती गई जिसे राजनीति द्वारा सींचा गया । आज भी विशिष्ट लोगों का हिस्सा सिर झुकाए, हाथ बाँधे खडा है । इन्हीं लोगों के लिए तो महान नेताओं ने न्याय, समता और बन्धुत्व की आवाज़ उठाई थी ।"[1]

एक देश को शासकीय सत्ता के नीचे सबको समान अधिकार के साथ जोने का अवसर होना चाहिए । पर भारत में सत्ता अपने दायित्व से बिलकुल फिसल गई है । वह जन शोषण का माध्यम बन गई है इसलिए यहाँ के दलितों को आदमी की तरह जीने के अधिकार के लिए सत्ता से भी संघर्ष करना पडता है । सत्ता शोषित निम्न वर्ग के प्रति अपनी आँखें बंध किए दिखाई देती है । इसी कारण से स्वतंत्रता पूर्व और स्वातंत्र्योत्तर परिस्थिति में दलित जीवन में कोई कारगर प्रगति नहीं दीखती । स्वतंत्रता के पहले और बाद की शासकीय सत्ताओं ने उनके साथ कोई न्याय नहीं किया था । अंग्रेज़ों ने देश की सामाजिक,

---

1. दामोदर खडसे - समकालीन भारतीय साहित्य - पृ. 85

सांस्कृतिक एवं धार्मिक आचरणों और रिवाज़ों पर अधिकार जमाने का कार्य नहीं किया था । वे सब उस समय भी देश के उस वर्ग के हाथों ही थे । स्वाधीनता के बाद देशी शासकों ने भी दलितों के उद्धार या प्रगति को लक्ष्य नहीं किया । इस प्रकार पराधीन देश में तथा स्वाधीन देश में दलितों की स्थिति काफी बदत्तर होती रही । इसके लिए विदेशियों की अपेक्षा स्वदेशी शासक ही अधिक जिम्मेदार रहे हैं ।[1] इस प्रकार सत्ता द्वारा तिरस्कृत दलितों का जीवन यथार्थ साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों का मर्म बन गया ।

---

1. The problems of the Dalits and the struggle for liberation is continuing in the post-independence period with equal fervour, because even India's political freedom in 1947 was not able to help them in getting out of their condition. Prior to Independence, the British rulers used the policy of 'Non-interference' in local, cultural and religious practices, in order to rule the people of India, and for that they even created a new vocabulary. The new rulers of Independent India have continued to use the same vocabulary and expressions which in no way have helped the masses, particularly the Dalits'.
   James Massey - Dalits in India - P.53

सत्ता की अमानवीय वृत्ति यथाप्रस्तावित

भारतीय प्रशासन के अमानवीय ढाँचे को आलोचनात्मक तथा व्यंग्य की दृष्टि से चित्रित करनेवाले उपन्यास हैं "यथा प्रस्तावित" और "परिशिष्ट" । इसके लेखक गिरिराज किशोर इस अनुभव जगत से बहुत गहरे स्तर पर परिचित उपन्यासकार है और शासन तंत्र के अंतर्विरोधी चरित्र को लेकर अक्सर चिंतित भी हैं । "यथा प्रस्तावित" उपन्यास में इस सत्य की ओर संकेत किया गया है कि प्रशासक स्वयं किस प्रकार दलितों पर अत्याचार करता है और "परिशिष्ट" में यह दिखाया गया है कि प्रशासक किसप्रकार दलितों पर हमला करनेवाले अत्याचारियों का साथ देता है ।

"यथा प्रस्तावित" चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारी बालेसर की यातना-कथा पर आधारित है । बालेसर एक कर्तव्य निष्ठ, स्वाभिमानी, अधिकारों के प्रति जागरूक, संवेदनशील कर्मचारी है पर सवर्णों के वर्चस्व के कारण उसे भयानक यातनाओं को झेलना पडता है और अन्ततः विक्षिप्त हो जाता है । लेखक ने बालेसर और उसके पारिवारिक जीवन की त्रासदी का चित्रण करते हुए उन शक्तियों की ओर भी इशारा किया है जो संगठित चालाकी और स्वार्थ के बूते पर इन्हें शोषण और अमानवीय यातना की गिरफ्त में रखती है ।

उपन्यास में यह तथ्य अपने भयावह रूप में सामने आता है कि संवैधानिक संरक्षणों व प्रावधानों के रहते हुए भी दलितों को किस प्रकार अपने मानवीय अधिकारों से वंचित तथा प्रताडित रहना पडता है ।

उपन्यास में दलित वर्ग के सरकारी कर्मचारियों के जख्मों को पूरी सच्चाई के साथ प्रस्तुत करने के साथ साथ सरकारी कार्यालयों की लालफीताशाही, भ्रष्टाचार और षड्यंत्र की ओर भी इशारा किया गया है ।

बालेसर सरकार की नीति के अनुसार उस वर्ग के अन्तर्गत आता है जिसके आर्थिक हितों को भारतीय संविधान संरक्षण प्रदान करता है और सेवा-योजन के संदर्भ में आरक्षण का प्रावधान है । "श्री बालेसर एक ऐसे वर्ग से आते है जो सदियों से आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछडा हुआ माना जाता रहा है और जिसे निहायत हेय दृष्टि से देखा जाता है । सरकार इस बात के लिए कटिबद्ध है कि इस वर्ग के लिए रोज़गार के अधिक से अधिक स्थायी अवसर मोहय्या कराये जायें । इसलिए लगातार आरक्षण पर ज़ोर दे रही है ।"[1] मज़दूर संस्थान में बालेसर को नियुक्ति डैली वेतन पर होती है । उसके साथ अन्य बीस से अधिक मज़दूरों को भी नियुक्ति दैनिक वेतन पर होती है । पर वहाँ के लिपिक वर्गीय इंचार्ज पूजापाठी त्रिपाठी तथा उनके सहकर्मी मिलकर बालेसर को छोडकर अन्य को रगुलर कर देते हैं । मज़दूरों को रगुलर करना संतोषजनक कार्य ज़रूर है । पर बालेसर का केस काफी दिनों तक लटकाये रखा जाता है । इसलिए उनको स्थायी कर्मचारियों को मिलनेवाली सहायताएँ नहीं मिलती । अस्पताल से उसे दवा तक नहीं मिलती । डैली वेजेस वर्कर होने के कारण बाहर से खरीदी दवाओं का री-इम्बेर्समेन्ट भी नहीं हो पाता । उसके बीमार माँ-बाप को रोटी से ज़्यादा दवा चाहिए थी । बालेसर को इस नौकरी से दोनों जून आटा खरीदने का तो जुगाड नहीं हो पाता तो दवा कहाँ से खरीदी जाएगी । फलतः दवा के अभाव में माँ-बाप मौत के शिकार हो जाते हैं।

---

1. गिरिराज किशोर - यथा प्रस्तावित - पृ. 58

दिहाडी मज़दूर होने के वजह से उस पर छुट्टी संबंधी नियम भी लागू नहीं होते । छोटे भाई के विवाह में वह छुट्टी पर जाता है । पर उस छुट्टी का वेतन काट लिया जाता है, और उसकी गरीबी की जख्मों को और भी गहरा बना देता है । कालेसर की इस पतितावस्था का यथार्थ चित्र उसके प्रत्येक कथन से उपलब्ध है - "सच पूछिए तो कभी-कभी रोटी की शक्ल देखना भी हम लोगों के लिए भगवान के दर्शनों के समान है । जब कभी हारी-बीमारी में लम्बी नागा हो जाती है तो पहला संकट रोटी पर ही आता है । काम पर नहीं जा पाते तो पैसा नहीं मिलता । पैसा नहीं मिलता तो रोटी नहीं मिलती । महँगाई पाप की तरह बढ रही है । पेट पापी होता जा रहा है । हम तो हम, हमारे बड़ों ने भी कभी अच्छे दिन नहीं देखे सदा दरिद्र ही कहाये । श्रीमानजी से यही प्रार्थना है कि मेरे काम के बारे में पूरी पूछताछ करके मेरी सेवाएँ नियमित कर दें । कम-से-कम जिन्दा रहने का सहारा तो हो जायेगा । विश्वास दिलाता हूँ कि ज़िन्दगी भर आपका अहसान नहीं भूलूँगा । रोटी दिये से बडा, ना दूसरा पुण्य होता है और न अहसान.."[1]

बालेसर का अपराध यह था कि हरिजन होते हुए भी उसने निजी गिलास के अभाव में दफ्तर के त्रिपाठी बाबु के गिलास से पानी पी लिया । उनकी नाराज़गी पर उसने कहा, "हर समय दूर.. दूर... पर कहते रहते हैं जैसे ये किसी और मिट्टी के बने हो ।"[2] उसका दूसरा गंभीर अपराध यह था कि कनिष्ठ अधीक्षक श्री त्रिपाठी ने

---

1. गिरिराज किशोर - यथा प्रस्तावित - पृ. 26
2. वही - पृ. 54

जब बालेसर से फोन उठाकर उनकी मेज़ पर रखने के लिए कहा तो बालेसर ने अपमानजनक अन्दाज़ में यों कहा, "फोन अपने आप उठा लीजिए - जब आप हमारा छुआ गिलास नहीं छू सकते तो फोन कैसे छू लेंगे ?"[1] तीसरी शिकायत यह थी कि दफ्तर में वरिष्ठ लोग बैठे रहते हैं, बालेसर ठीक साढे पाँच बजे दफ्तर छोडकर चला जाता है ।

बालेसर शुरू में इस उपन्यास का एक साधारण पात्र है । फिर एक प्रमुख चरित्र बनकर आज के भारत का पूरा का पूरा वातावरण सृजित करता है । उसके माँ-बाप और बच्चे भी दरिद्रता के कारण और दवा के अभाव में एक-एक कर उससे छीन लिए जाते हैं । बडों की ज़िद और पूर्वाग्रह-मिश्रित घृणा के कारण उसके बहाल हो जाने के बाद भी उसकी निलंबन अवधि का वेतन नहीं दिया जाता । इस प्रकार दारूण सामाजिक जीवन-स्थितियों के कारण वह विक्षिप्त हो जाता है ।

बीमारी की हालत में उसके बच्चे का इलाज इसलिए नहीं हो पाता क्योंकि उसके केस में बच्चे के जन्म का सर्टिफिकेट संलग्न नहीं था । फिर बालेसर तो सर्टिफिकेट भेज देता है लेकिन कागज़ी घोडा जब आफीसों को एक लंबी यात्रा पूरी करके लौटा तब तक बालेसर का लडका मर चुका होता है । इसलिए वह अधिकारियों को लिखता है - "अगर बच्चे का इंदराज कर लिया गया हो तो उसे काट दे क्योंकि अब

---

1. गिरिराज किशोर - यथा प्रस्तावित - पृ. 63

वह इस संसार से जाता रहा । मैं ने एहतियातन उसी समय सर्टिफिकेट ले लिया था कि कहीं नाम काटने के मसले को लेकर आपके सामने कठिनाई न आ जाये । मैं कहता रहूँ वह मर गया है, आप कहते रहे वह जिन्दा है ।"[1] निदेशक ने बालेसर के उस पत्र पर केवल एक शब्द लिखा था "खेद है ।" यह दफ्तरों की लाल फीताशाही और मामला लटकाऊ नीति पर करारा व्यंग्य है ।

"यथा प्रस्तावित" मानवीय स्थिति की जख्मों से भरी उन लोगों की दास्तान है जिन्हें कागज़ी गोलियों से शहीद कर दिया जाता है । इनकी आवाज़ कोई सुनती नहीं खासकर जो इन पर चलते हैं । "कागज़ों मारते और कागज़ों जिलाते हो । वहाँ न आदमी स्वयं होता है और न उसकी मज़बूरी । कागज़ कह देते हैं कि काटो गला तो तुम काट देते हो । कागज़ तटस्थ होते हैं, आदमी डूबा हुआ । एक ही काम करो तो बहुत है । इन कागज़ों के मलबे के नीचे से जो तुम्हारे लिए तुम्हारी आत्मा की आवाज़ की तरह पवित्र है, जिन्दा और मुर्दा लोगों को अलग अलग छाँटते जाओ । मरे तो मरे, जिन्दा तो बचे । पर तुम तो जीवितों को भी कागज़ों के नीचे दबाये डाल रहे हो, जिससे उनकी चलती साँसें भी रूक जायें ।"[2] बालेसर का दुर्भाग्य उसका अछूत होना उतना नहीं है जितना अछूत होकर एक स्वतंत्र भारतीय नागरिक की हैसियत पाने की उसकी ललक । वह आदमियत के रिश्तों में जीते हुए, अपने माँ-बाप के लिए, छोटे भाई,

---

1. गिरिराज किशोर - यथा प्रस्तावित - पृ. 112
2. वही - पृ. 19

पत्नी और बच्चों के लिए मानवीय स्थितियों की साधिकार माँग करता है और इस तरह पारंपरिक व्यवस्था के शिकंजे को अपने चारों तरफ कसने के लिए आमंत्रित करता है । यहाँ तक कि जो अफ़सर अपने को बड़प्पन देने के लिए ही सही, उसकी सहायता करना चाहता है, उस पर भी अपने व्यंग्य और आक्रोश का तीर छोड़ने से बाज नहीं आता । "आप लोग क्यों सुनेंगे गोली की आवाज़ जात के बड़े, बात के बड़े, ठाठ के बड़े । रात-दिन गोली चल रही है । इन्हें इसकी ठुँ-ठा सुनाई ही नहीं पड़ती, यहाँ शरीर छलनी हो गये ।"[1]

यह समूची स्थिति किसी भी बेसहारा मज़दूर को विक्षिप्तता के दुर्भाग्यपूर्ण गर्त में ढकेलने के लिए काफी है । अंततः बालेसर का भी यही श्रेय होता है । कार्यालयी परिस्थितिवश अपनी छुट्टी को अर्जी की तिथियों में हेरफेर के लिए उस पर सरकारी रिकार्ड में जालसाजी करने का आरोप लगाया जाता है और निलंबित किया जाता है । यह विस्फोटक स्थिति उसे अतिशय मानसिक तनाव में ढकेल देती है । बहाल हो जाने पर भी निलंबन अवधि का भुगतान तो उसे आदेशों के बावजूद दिया नहीं जाता, उल्टे उस पर नया आरोप यह लगाया जाता है कि हाजिरी रजिस्टर का एक वर्क फाड़कर वह रोज़ उस पर हस्ताक्षर करता है । अंततः दफ्तरी षड्यंत्र स्थितियों को कुछ इस तरह कुतर्क का जामा पहना देता है कि बालेसर पर होनेवाली जघन्य और अमानुषिक ज्यादतियों के प्रति आश्वस्त होने के बावजूद उसका बाँस नीचे से आनेवाले

---

1. गिरिराज किशोर - यथा प्रस्तावित - पृ. 10

उसकी नौकरी की समाप्ति के प्रस्ताव पर "यथा प्रस्तावित" लिखकर उसे बर्खास्त कर देता है ।

"यथा प्रस्तावित" से गुज़रना अपने समय के बीच से गुज़रना है, उस सर्वग्राही संकट से साक्षात्कार करना भी है जिसे हम नौकरशाही और अफसरशाही के नाम से जानते हैं । "प्रशासन जब तक इन्सानों के लिए रहता है तब तक संरक्षक है लेकिन जब वह अपने लिए हो जाता है तो वह भक्षक हो जाता है । हर वस्तु, हर इन्सान, हर स्थिति उसके लिए भक्ष्य हो जाती है । छोटे-छोटे प्रशासन, जो उसकी चौकियाँ होते है, आवश्यकता पड़ते ही मदद के लिए दौड़ पड़ते हैं । वे अपने से बड़े की मदद करना जानते है, विद्रोह करना नहीं जानते । जब एक या बहुत से इन्सान बालेसर की-सी ज़िन्दगी कसर करने के लिए मज़बूर किये जाते हैं तो न तो प्रशासन उसकी तरफ देखता है और न वे इन्सान जो अपने को उस स्थिति से अलग समझने के भुलावे में रहते हैं ।"[1] प्रशासन तंत्र की विकृत मानसिकता के प्रत्यक्ष ज्ञानी गिरिराज किशोर ने इन्सान को इन्सान से बदतर बना देनेवाले इस तंत्र का एक सार्थक पोस्ट-मार्टम अपने उपन्यास में किया है ।

सत्ता की मौन सहमति और दलितों की त्रासदी परिशिष्ट

दलित वर्ग को सामाजिक आर्थिक दृष्टि से संपन्न बनाने के लिए उन्हें शिक्षा तथा नौकरियों में आरक्षण की सुविधा प्रदान की

---

1. गिरिराज किशोर - यथा प्रस्तावित - पृ. 67

गयी है । एक विचार पक्ष यह है कि इस प्रकार के आरक्षण से कार्य कुशलता बाधित होती है और कार्यक्षमता तथा बौद्धिक दृष्टि से कमज़ोर लोग महत्वपूर्ण और आधार पदों पर पहुँचकर, पूरी व्यवस्था बरबाद कर देते हैं । इस तर्क में कोई दम नहीं है, दूसरी तरफ यह भी सच है कि सदियों से दलित और शोषित ये लोग शैक्षिक और आर्थिक साधनों की दृष्टि से इतने पीछे है कि बिना आरक्षण के वे उच्चवर्ग के साथ प्रतियोगिता में हिस्सा ले ही नहीं सकते । यह मानना होगा कि इस समस्या पर बहुत गहराई के साथ विचार नहीं किया गया है । गिरिराज किशोर के उपन्यास "परिशिष्ट" में यह बताया गया है कि किसप्रकार आरक्षण प्राप्त दलित वर्ग अन्यवर्ग से पीडित है और किसप्रकार प्रशासन इसके लिए अत्याचारियों का साथ देता है ।

गिरिराज किशोर ने अपने कथा संसार के केन्द्रीय मंच के रूप में आई-आई-टी संस्थान को चुना है । जहाँ अधिकतर उच्चवर्ग और संपन्न समाज के छात्र प्रतियोगिता परीक्षाओं में सफलता प्राप्त कर प्रवेश पाते हैं । ये लडके, बिलायती रहन-सहन, बिलायती रीति रिवाज़, बिलायती मानेर्स, विलायती अनुभव आदि के इतने अभ्यस्त हो जाते हैं कि हिन्दी या क्षेत्रीय भाषाओं में बोलने, भारतीय ढंग से अभिवादन करने, भारतीय ढंग से पहनने आदि में इन्हें शर्म आती है । इनके बीच आरक्षण के बल पर आये छात्र अपने को अजनबी महसूस करते हैं । इन संस्थाओं के अधिकतर शिक्षक और अधिकारी लोग आरक्षण की व्यवस्था के विरोधी हैं । इसलिए इन छात्रों को कक्षाओं में, खेल के मैदान में, मेस में, छात्रावास में, अतिथि भवन में अपमानित होना पडता है, अत्याचार का शिकार होना पडता है ।

"परिशिष्ट" में अनुकूल, मोहन, बाबुराम वाल्मीकी ऐसे पात्र हैं जो अपनी शिक्षा संस्था में निरंतर उच्चवर्ग के छात्रों द्वारा पीडित और अपमानित है । खन्ना, दिनेश जैसे संपन्न छात्र रोज़ उनका अपमान करते हैं । खन्ना एक बार कहता है - "अगर तुम अपनी सीमाओं को समझते है तो ठीक है.... नहीं समझते तो समझो । रियाया की स्थिति से ऊपर उठने में अभी समय लगेगा । अगर हम लोगों की बराबरी करनी थी तो वैसा ही बीज चाहिए था ।"[1] वे इनका अपमान ही नहीं करते वरन् अकारण मारपीट भी करते रहते हैं । यों दलित छात्रों का जीना इतना मुशकिल कर देते हैं कि मोहन नामक लडका फांसी लगाकर आत्महत्या कर लेता है । दो दिनों तक उसकी लाश सडती रहती है, पर कोई उसे उतारने को तैयार नहीं होता । एक दूसरे दलित छात्र राम उजागर पर इस हादसे का ऐसा असर होता है कि वह पागल हो जाता है । अनुकूल को भी दिनेश आदि पीटते है जिससे उसके पैर की हड्डी टूट जाती है । इन सभी संदर्भों में प्रशासन का या अधिकारियों का अमानवीय व्यवहार ही इन छात्रों के साथ होता है । राम उजागर जब तनिक स्वस्थ होकर संस्थान में वापस आता है तो खन्ना, कुछ प्रोफसर और कुछ अधिकारी लोग मिलकर उसे संस्थान में पुनः प्रवेश न दिलाने का प्रयत्न करते हैं ।

लेखक ने अनुकूल और राम उजागर जैसे दो ऐसे दलित पात्रों की सृष्टि की है जो परिस्थितियों से लडते हैं । इनमें राम उजागर आई.आई.टी में चतुर्थ वर्ष का छात्र है जिसका दाखिला कोटे के बिना ही

---

1. गिरिराज किशोर - परिशिष्ट - पृ.153

हुआ है जो प्रतिभावान और जुझारू है । मोहन की आत्महत्या की घटना को लेकर वह उच्चवर्ग के प्रति अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है - "मैं तुम लोगों से नहीं डरता, मैं डरता हूँ तुम लोगों की बदनियति से, तुम पूरी तरह मारोगे भी नहीं....। सिसकाओगे । तुम झटका देकर रीढ की हड्डी तोड देते हो । मोहन की गर्दन तोड दी थी । वैसे वह जिन्दा था । उसने लंबी सांस ली थी । अपने हाथ हिलाये थे..... मुझे मत जलाओ । वह बोलता पर गर्दन टूटी होने के कारण नहीं बोल पाया । दर असल तुम बोलते रहने को ही जीना समझते हो.... जो बोलते रहे वे तुम्हारी नज़रों में मरकर भी जिन्दा रहते है..... हम नहीं बोल पाये तो जिन्दा भी मरे हुए है । तुम मेरे इन दोनों भाईयों का नाम भी मरे हुओं में लिखवा दोगे..... लो मैं बोलूँगा, खूब बोलूँगा लिखो मेरा नाम मरे हुओं में ।"[1]

अनुकूल उपन्यास के अंत तक बहुत ही धैर्य, दृढता और विवेकशीलता के साथ मैदान में डटा रहता है । वह न उत्तेजित न पराजित । मोहन की आत्महत्या अनुकूल को भी कम प्रभावित नहीं करती । अन्य छात्रों द्वारा फाँसी पर व्यंग्य करते देखकर अनुकूल का हृदय भी अरुचि से भर उठता है । किन्तु वह अपना विवेक खोने से स्वयं को बचाये रखता है । संपन्न छात्रों द्वारा वह शारीरिक पीडन का भी भागी होता है । यहाँ तक कि उसके पैर की हड्डी तक टूटती है किन्तु अनुकूल पलायन नहीं करता । उसके पिता उसे घर वापस ले जाना

---

1. गिरिराज किशोर - परिशिष्ट - पृ. 143

चाहते हैं । पर वह इसे स्वीकार नहीं करता । वह कहता है -"..... घर वापिस लौटकर अपने को सुरक्षित महसूस करने के स्थान पर हम लोग अधिक अरक्षित हो जाएँगे । यह दूसरी तरह की आत्महत्या होगी । यह वक्त यहीं बने रहने का है । राम दादा को इसलिए छोडकर चले जाना पडा क्योंकि उनके पास कोई रास्ता नहीं बचा था । उससे बाहर निकल जाने के सब साधन समाप्त हो चुके थे । जब तक बाहर की लडाई लडते रहे, मैदान उनके हाथ रहा । अन्दर प्रवेश करते ही वे घिर गये । बाहर निकलने के सारे रास्ते बन्द हो गये । अगर मैं यहाँ सुरक्षित नहीं रह सकता तो वहाँ भी नहीं रह सकता । यही वह खेत है, जहाँ हमें अपने आपको खाद के रूप में खपा देना है ।"[1]

गिरिराज किशोर ने एक पर्याप्त व्यापक फलक पर इस समस्या को उठाने की कोशिश की है । अनुकूल और राम उजागर के माध्यम से यह समस्या दलितों के आम जीवन से जुडती है । इन दोनों छात्रों के परिवारों तथा उनके ग्रामीण परिवेश के चित्रण के द्वारा उनकी महत्वाकांक्षा की ओर भी संकेत किया है । लेकिन सत्ता या अधिकारियों के तिरस्कार की भावना के कारण वे आगे नहीं बढ सकते । सदियों से यही हाल है । अनुकूल और राम उजागर दोनों के पिता कर्मठ, महत्वाकांक्षी, और प्रबुद्ध है बहुत अपमान, संघर्ष और साहस के साथ उन्होंने अपने जीवन स्वर को आम दलितों से ऊपर उठाया है । उनकी महत्वाकांक्षा है कि उनकी अगली पीढी और भी आगे बढे । बावनराम का कहना है -

---

1. गिरिराज किशोर - परिशिष्ट - पृ. 291

"हम लोग कम पढ़े-लिखे लोग है । वैसे अपने जमाने में हम ही सबसे पढ़े लिखे माने जाते थे । आठवीं पास की थी पर दसवीं तक पढ़े थे । हमारे पिता ने न जाने कैसे हमें इतना पढ़ा दिया । उन दिनों हम लोगों में से कोई बाप बच्चे को इतना पढ़ा देता था तो ज़मीन्दार नाराज़ हो जाता था । समझता था हमारी बराबरी करता है । पढ़-लिख गये थे तो फैक्टरी में नौकरी मिल गयी । वहाँ भी कम बर्दाश्त नहीं किया । पर मेहनत और रसूख की वजह से प्रमोशन पाते गये । अब बुढ़ापा है.... चाहते है अनुकूल और भी आगे बढ़े ।"[1] इसी उद्देश्य से वे अपने संभावनाओं से युक्त बेटों को आई.आई.टी भेजते हैं । लेकिन सदियों से सत्ता का जो व्यवहार उनके साथ होता रहा है वह आज भी जारी है । इसलिए यहाँ अनुकूल और राम उजागर जैसे छात्रों को बहुत कुछ सहना पड़ता है । इसका सशक्त चित्रण लेखक ने किया है ।

उपन्यास की भूमिका में गिरिराज किशोर ने लिखा है -"इस उपन्यास को लिखने की बात पिछले कई वर्षों से दिमाग में पक रही थी । लेकिन जब तक स्वयं नहीं भोगता तब तक बता भी नहीं सकता । पिछले चार पाँच वर्षों के दौरान "अनुसूचित" होने की मानसिकता के प्रति संवेदना का निर्माण हो जाने पर ही कलम उठाने का साहस हुआ ।"[2] हम जानते हैं कि गिरिराज किशोर आई.आई.टी कानपूर के पदाधिकारी है और इसलिए इस उपन्यास का कथा संसार अनुभव की प्रामाणिकता से

---

1. गिरिराज किशोर - परिशिष्ट - पृ. 179
2. वही - पृ. 8

रहित नहीं हो सकता । दलित छात्रों का जो चित्रण उपन्यास में किया गया है वह दलित जीवन संबंधी समकालीन यथार्थ की ओर संकेत करनेवाला है । उपन्यास में प्रशासन, दलितों को अपने संवैधानिक अधिकार प्रदान करने में, उन्हें संरक्षण देने में किसप्रकार असमर्थ है, निष्क्रिय है उस पर सशक्त रूप से विचार किया है । उपन्यास में दलित छात्रों को जो कुछ भी झेलना पडता है वह प्रशासन की अमानवीयता के कारण ही । क्योंकि उनको रक्षा का पूर्ण दायित्व प्रशासन पर निर्भर है । लेकिन वह उसमें असफल निकलता है । इसका कारण यही है कि सत्ता शोषित निम्नवर्ग के अधिकारों को केवल कागज़ तक सीमित रखना चाहती है । इसी कारण से दलित अपने अधिकारों से पूर्णत: वंचित रहती है और हर कहीं असुरक्षित भी ।

प्रशासन की अमानवीयता और महापात्र

जनता की बेहतरी के लिए तथा विकास कार्यक्रमों के निर्बाध संचालन के लिए कानून-व्यवस्था को प्रभावी ढंग से बनाए रखने का उत्तरदायित्व राज्य का है । राज्य अर्थात् शासन उसके लिए विधि-संहिताओं के आधार पर तथा पुलीस बल की सहायता से कानून एवं व्यवस्था का संचालन तथा उसपर नियंत्रण रखता है । लोक कल्याणकारी शासन की स्थापना स्वतंत्र भारत की आधारभूत नीति है जबकि ब्रिटिश काल में विदेशी शासन का मूल उद्देश्य किसी भी कीमत पर अपने अस्तित्व को बनाए रखना तथा भारतवर्ष का अधिकाधिक आर्थिक दोहन करना था । इस कार्य में ब्रिटिश शासन के कारिन्दों के रूप में लगे हुए अफसरों, ज़मीन्दारों रायसाहबों इत्यादि का सहयोग व समर्थन करनेवाली तत्कालीन पुलीस की

मानसिकता भी निरंकुशवादी तथा सामन्तवादी हो चली थी । फलतः "स्वतंत्र भारत में शासन की भूमिका में आए आमूल परिवर्तन के साथ पुलोस की मानसिकता में आकस्मिक बदलाव की स्थिति आना एक अत्यंत कठिन तथा अस्वाभाविक बात रही ।"[1] यद्यपि पुलीस की मानसिकता में युगान्तकारी परिवर्तन के प्रयास शासन द्वारा निरंतर किए जाते रहे है, फिर भी अभी बहुत कुछ होना इस दिशा में अवशेष है । इस कारण से पुलिस आज भी उत्पीडक और अत्याचारी के रूप में हमारे सामने है । यह भी सत्य है कि इस अत्याचार और उत्पीडन का सबसे बडा शिकार है दलित जन साधारण । विश्वेश्वर के उपन्यास "महापात्र" में इस सत्य पर प्रकाश डाला गया है । उपन्यास में अमानवीय पुलीस व्यवस्था का शिकार है डूम जाति की कमला ।

भिलाई इस्पात संयंत्र में इन्जीनियर भि.घोष के घर पर उनकी पत्नी की अनुपस्थिति में चोरी हो जाती है । वह अपनी नौकरानी कमला के विरुद्ध पुलिस थाने में चोरी की रिपोर्ट दर्ज कराते हैं । इस पर थाने का सारा पुलीस अमला कमला व उसके परिवार जनों पर अमानवीय अत्याचार करने शुरू कर देता है । कमला दबी जबान से कुछ कहना चाहती है तो थानेदार त्रिपाठी उससे और बर्बरता से पेश आते है ।

थानेदार त्रिपाठी, उप निरीक्षक शर्माजी, प्रधान आरक्षक नसरीन बेगम आदि कमला और उसके परिवार के फूलवती,

---

1. डॉ.सुधाकर अदीब - हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन - पृ.226

नीलमणी, रुक्मणी, खुसरू आदि को बुरी तरह मारते हैं - पीटते है । इन गरीबों के साथ ऐसी मार पीट होती है जैसी पशुओं के साथ भी नहीं की जाती । कमला को छत के पंखे से लटका दिया जाता है । पुलीस अधिकारी इनकी झोंपडियों की तलाशी लेते हैं, उनका सामान नष्ट कर देते हैं, उनकी झोंपडियाँ तहस-नहस कर देते हैं । गरीबों पर हुए इस अत्याचार को अखबारों में प्रकाशित करने तथा यह खबर जिलाधीश तक पहुँचाने के लिए प्रयत्नरत नेता अन्त में पैसे लेकर गुम हो जाते हैं । जिलाधीश से लेकर लोक सभा तक यह काण्ड गूँज उठती है पर इन गरीबों को न तो उनके घर मिलते हैं न सामान न नौकरियाँ । वे अपने पर हुए अत्याचार को दोहरा-दोहरा कर लोगों को बताने में मनुष्य के स्थान पर महापात्र बन जाते हैं ।

सरकार पुलीस अधिकारियों व जिलाधीश को निलंबित करने की कार्यवाही करती है, थोडे ही दिनों में वे पुनः बहाल हो जाते है । किन्तु पीडित गरीब डोम परिवार को कुछ भी नहीं मिलता । इस पुलीस नीति के खिलाफ आवाज़ उपन्यास में उपलब्ध है -"नहीं, यहाँ कोई पूछनेवाला नहीं है कि हमारी पुलीस कब बदलेगी ? उसे संस्कार और दिशा कब मिलेगी ? वह कब तक आततायी दिमाग बनी रहेगी.... यह सब पूछनेवाला यहाँ कोई नहीं है ।"[1]

---

1. विश्वेश्वर - महापात्र - पृ. 52

पुलीसी अतिचार और महाभोज

"महाभोज" उपन्यास सामाजिक उत्पीडन और उस पर टिकी हुई व्यवस्था पोषक राजनीति के विरुद्ध आवाज़ उठानेवाला है । इसमें लेखिका मन्नु भण्डारी ने सरकारी और उसकी पुलीस नीति पर विचार किया है । संपूर्ण उपन्यास आज के नंगे सच्च का यथातथ्य वर्णन है । स्पष्ट है कि आज के इस प्रजातंत्रिक युग में भी दलित वर्ग के प्राणों का महत्व किसी निरीह पशु से अधिक नहीं है । सरकार और पुलीस समान रूप से इनके साथ अमानवीयता का व्यवहार करते हैं । उपन्यास में इसका मार्मिक वर्णन मिलता है । यहाँ बिशु नामक युवक की हत्या होती है । लेकिन सभी प्रमाणों के बावजुद यथार्थ खुनी जरोवर को नहीं बल्कि बिशु का दोस्त बिन्दा को खुनी मान लिया जाता है । इस घटना का वर्णन उपन्यास में उपलब्ध है ।

बिसू की मौत की बाबत पूछताछ के लिए बिन्दा को एस.पी.सक्सेना के पास लाया जाता है - साँवला चेहरा, तीखे नाक - नक्शा और गठी हुई देह, चेहरे पर न किसी तरह का भय, न क्रोध.... सिर्फ एक अनासक्ति । सक्सेना से नज़र मिलते ही धड़ाक से थूक दिया बिन्दा ने, तो चौकीदार ने हड़काया, "ऐ, क्या करते है साहब के सामने ?" "क्यों, थूकना मना है क्या ?" बिन्दा जवाब देता है । एस.पी.पूछता है "जानते हो, सरकारी बुलावे पर न आना जुर्म है ?" "जुर्म ।" एकाएक लपट सी कौंधी बिन्दा की आँखों में, "जुर्म की पहचान रह गयी है आप

---

1. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ.114

लोगों को ?.... जिन्दा आदमियों को जला दो.... मार दो....यह सब जुर्म नहीं है न आपकी नज़रों में ? कहिए बेवकूफ बना रहे है सब को ।

बड़े प्यार से बुला-बुलाकर बयान लिए जा रहे है । पर होना जाना कुछ नहीं है ।"[1]

"याद रखो, यह थाना है, पागलखाना नहीं है" एक अफसरी आवाज़ गूँजती है और बिन्दा की औरत उससे सटकर दहाड़े मार कर रो पड़ती है । बिन्दा उस पर बरस पड़ता है -"मत टसुए बटा हरामजादी । मेरे भीतर सुलगती आग इन आँसुओं से ठंडी हो गयी तो सबकी तरह जनखा हो जाऊँगा मैं भी । अभी तो मुझे इन सबसे निपटाना है.... एक-एक से ।.... जो जिन्दा है वे अब जी नहीं सकते अपने इस देश में । मार दिए जाते है कुत्ते की मौत । जैसे बिसू मार दिया गया।"[2] .....जब सरकार ही सारी बात को ढाब-ढाँक रही है तो मेरे-तेरे भाग-दौड़ से क्या होगा ? जैसी यहाँ की सरकार, वैसी दिल्ली की सरकार ।"[3] मन्नु भण्डारी ने इन घटनाओं के द्वारा दलितों के साथ पुलीस और सरकार के अमानवीय व्यवहार का सही चित्र प्रस्तुत किया है । यह बिलकुल समसामयिक यथार्थ है जिस पर विचार करते हुए लेखिका ने वर्तमान पुलीस नीति पर व्यंग्य किया है ।

---

1. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 115
2. वही - पृ. 116-117
3. वही - पृ. 119

जन शोषण की अनेक संस्थाओं में एक है ज़मीन्दारी व्यवस्था । यह व्यवस्था या वर्ग जोंक की भाँति निरीह जनता का रक्त चूस लेता है । ये ज़मीन्दार जो राज्य तथा किसानों के बीच बिचौलिए की भूमिका अदा करते हुए मुफ्त में किसान के श्रम और पसीने की कमाई का अधिकांश भाग स्वयं हडप लेते हैं । ग्रामीण जन जीवन जमीन्दारों के आतंक से निरंतर त्रस्त रहता है । किसानों तथा भूमिहीन मज़दूरों पर ज़मीन्दारों के अत्याचार अनेक प्रकार के है - यथा लगान में बढोतरी करना, लगान की अदायगी में असफल रहने पर कृषकों को भूमि से बेदखल करना, बिना खाना दिए जबरन कार्य कराना, उनकी बहूबेटियों की इज्जत लूट लेना । इस प्रकार जमीन्दारी अत्याचारों से पीडित पात्रों को दलित जीवन पर लिखे गये साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में देख सकते हैं ।

चमारों का चमराता जीवन धरती धन न अपना

श्री जगदीश चन्द्र का "धरती धन न अपना" दलितों के जीवन यथार्थ का पर्दाफाश करनेवाला और एक सशक्त उपन्यास है । उपन्यास का केन्द्र बिन्दु शिवालिक घाटी में पंजाब के होशियापुर जिले के घोडीवाहा गाँव का मोहल्ला और उसमें बसे चमारों का जीवन है । अपने वक्तव्य में लेखक ने यह स्वयं स्वीकार किया है कि आर्थिक अभावों की चक्की में युग-युगान्तरों से पिस रहे दलित वर्ग अब भी मध्यकालीन यातनाओं को भोग रहे हैं । जिस भूमि पर वे रहते हैं, जिस ज़मीन को वे जोतते हैं ; यहाँ तक कि जिन छप्परों में वे रहते हैं, कुछ भी उनका अपना नहीं है । उनपर उनका कोई अधिकार ही नहीं है ।

उपन्यास का प्रमुख चरित्र काली, जो अपने गाँव से कई वर्षों तक दूर रहकर लौट आया है । इसलिए काली का अपना गाँव लौटना सिर्फ भौतिक लौटना नहीं हैं, बल्कि एक नयी मानसिकता को लेकर लौटना है जिसमें शहरी मज़दूर-संगठनाओं की जानकारी तथा शोषितों के अधिकार की जागरूकता है । बचपन में कालो ने खुद चौधरियों के अत्याचारों को सहा है और अपनी बिरादरी के लोगों को सहते देखा है । अनुभवों और अधिकारों की नई मानसिकता लिए आया काली चमादडी में पक्का मकान बनवाकर चौधरियों को चुनौती देना चाहता है तो दूसरी ओर अपनी बिरादरी के लोगों को अपने निम्नतर की ज़िन्दगी से ऊपर उठने की आत्मबोध पैदा करना । सहज ही काली का यह इरादा उच्चवर्ग के लोगों को बिलकुल पसन्द नहीं आया । चमार लोग भी अपनी परंपरागत स्थितिशीलता को छोडना नहीं चाहते । यों चमारों के आपसी झगडे और चौधरियों के जुल्म के भी आत्मस्वावलंब पनपी सामाजिक व्यवस्था को बदलाने की कोशिश में काली एक प्रतिनिधि चरित्र बन जाता है ।

मौजूदा ज़मीन्दारी शोषण व्यवस्था के खिलाफ आवाज़ उपन्यास में बुलन्द है । "जिस तरह बडी मछली छोटी मछली को खाती है उसी तरह बडा तबका छोटे तबके को एक्सपलायट करता है । यानी उसको मेहनत का फल उसे नहीं खाने देता बल्कि खुद खा जाता है ।"[1] इस शोषण व्यवस्था के विरोध में अपनी बिरादरी के कुछ युवकों को

---

1. जगदीश चन्द्र - धरती धन न अपना - पृ. 144

संगठित करने की कोशिश काली करता है । लेकिन कोई उसका साथ नहीं देता । क्योंकि ये निम्नवर्ग, उच्चवर्ग के हाथों अपमानित होना, उनके हाथों पीसा जाना और उन्हीं के हाथों भिक्षा ग्रहण करना अपने लिए पुण्य कर्म समझते हैं । सांस्कृतिक गुलामी की यह परंपरा निम्नवर्ग की मानसिकता में इतनी गहरी रिस गयी है कि इसे निकालकर गुलामी की सही शत्रु की पहचान करवाना असंभव तो नहीं कठिन ज़रूर है ।

इसलिए "धरती धन न अपना" भले ही काली की पलायन की कहानी हो साथ ही यह कहानी दलितों के उस ताकत की ओर भी इशारा करती है जिसमें शोषकों के खिलाफ विद्रोह की क्षमता है । काली की कहानी निचली सीढ़ी पर अपने ही बालों को ऊपर उठाने के प्रयास की कहानी है । उसका त्रासद अंत एक ओर निम्नवर्ग के शोषण पर आधारित व्यवस्था के खिलाफ एकता की प्रक्रिया की विफलता का द्योतक है तो दूसरी ओर कहीं न कहीं उस दिशा का संकेत देता है जहाँ संघर्ष की शुरूआत के बिन्दु का निर्माण होता है । शिवकुमार मिश्र ने ठीक ही कहा है -" प्रेमचन्द का होरी अपने समय के, संदर्भ में परिस्थितियों से तो लड़ता है किन्तु अन्याय से नहीं लड़ पाता । वह अन्याय से समझौता करता है, जिन्दा रहने के लिए ज़रूर जोवट की लड़ाई लड़ता है । किन्तु काली परिस्थितियों से ही नहीं अन्याय से भी लड़ता है, अकेले भी, और एक सही वर्ग चेतना के तहत अपनी बिरादरी को साथ लेकर भी । एक तरफ सुविधा संपन्न और शक्तिमान चौधरी है दूसरी तरफ परंपरा से अपमानित तथा अभिशप्त चमार, ठीक "प्रेमाश्रम" के ज़मीन्दार और किसानों की तरह । किन्तु "प्रेमाश्रम" और "धरती धन न अपना" के इस वर्ग संघर्ष में भी फर्क है, "प्रेमाश्रम" में वर्ग संघर्ष का

अंत प्रेमचन्द के उस समय के चिंतन के चलते वर्ग सहयोग में होता है, किन्तु यहाँ उसकी समाप्ति वर्ग सहयोग में नहीं एक वर्ग की हार में, चमारों की हार में, उनके विवशतापूर्ण समर्पण और उनकी बरबादी में होती है । चौधरियों को ताकत जीतती है, वे चमारों के संगठन और संकल्प को ताडे देते हैं किन्तु उपन्यास में यथार्थ की खुबी और जोवंतता यह है कि चमारों की बरबादी काली की तबाही और उसके संघर्ष तथा सपनों का ध्वंस तथा चौधरियों को जीत हमें किसी भी स्तर पर हताश और निराश नहीं करती, बेचैन और विक्षुब्ध ज़रूर करती है ।"[1]

छल के बीच सबसे बडा छल

श्री मधुकर सिंह द्वारा रचित उपन्यास "सबसे बडा छल" ज़मीन्दारों तथा भूपतियों द्वारा शोषित दलितों की कहानी ही है । हमें मालूम है कि बिहार में आर्थिक सत्ता आज भी भूपतियों के पास ही है । जिसे वे येन-केन प्रकारेणा अपने हाथ में रखे रहना चाहते है । इससे राजनीतिक वर्चस्व और प्रशासन तंत्र पर पकड लिए आपा-धापी का एक अनन्त सिलसिला चल पडा है । इस आपाधापी में श्रम पर जीवित सर्वहारा दलित वर्ग कीडे-मकोडों की तरह पीसा जा रहा है । वे अपने नागरिक व मौलिक अधिकारों से सर्वथा वंचित है ।

"सबसे बडा छल" में चौधरी द्वारा दलित वर्ग के साथ किये जानेवाले अमानवीय व्यवहार, उनके आर्थिक एवं अनैतिक शोषण का

---

1. शिवकुमार मिश्र - प्रेमचन्द विरासत की सवाल - पृ. 143

चित्रण है । गाँव में चौधरी बेलासिंह का अखण्ड साम्राज्य है । वह अपने अत्याचार से सबको त्रस्त किए हुए है । देवनाथ, बलदेव बुटाईसिंह आदि नई चेतना के प्रतिनिधि है । बलदेव व बुटाई सिंह को चौधरी परास्त व समाप्त कर देता है तथा देवनाथ को भीषण विषम परिस्थितियों से जूझना पडता है ।

दुनिया से कटे हुए मेमनों की कथा सफेद मेमने

सत्ता द्वारा तिरस्कृत जनविभाग है राजस्थान के रेगिस्तानी मनुष्य । ये ऐसे दलित जन साधारण है कि बाहरी दुनिया से इनका जोवन पूर्ण रूप से कटा हुआ है । इनकी दुरवस्था को पाठकों के सामने प्रस्तुत करने का कार्य मणि मधुकर ने अपने उपन्यास में किया है । इनके उपन्यास "सफेद मेमने" और "पिंजरे में पन्ना" रेगिस्तानी मनुष्य के वेदनापूर्ण जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति है । यह हिन्दी उपन्यास के संदर्भ में एक अछूता पक्ष रहा है ।

राजस्थान के रेगिस्तान में जीवित दलित जनता ही इनके इन उपन्यासों का आधार है । बाड़मेर के सूखे रेगिस्तान में स्थित नेगिया, बराऊ गांवासी जैसे ढाणियों में, रेगिस्तानी रिक्तता में जीने के लिए मज़बूर मानव की कथा है - "सफेद मेमने" । रेगिस्तानी कलाकार मणि मधुकर रेगिस्तानी अभावग्रस्त जीवन से परेशान है । रेत दुनिया से कटा हुआ है । वहाँ जीने के लिए मज़बूर है रेगिस्तानी मनुष्य - रामौतार

का कहना है -"यह इलाका दुनिया से कितना कटा हुआ है.... मेरे दिल में बड़ी बड़ी ख्वाहिशें थी । अब तो मैं बिलकुल भूल गया हूँ कि वे क्या थी ? और कैसी थी ? शायद मैं नेता बनना चाहता था... मैं नहीं, जानता कि मुझे क्या होता जा रहा है आजकल ।"[1] सरकार या अन्य अधिकारियों से तिरस्कृत होने के कारण उनके जीवन में कोई परिवर्तन आनेवाला नहीं है । प्रत्येक रेगिस्तानी मनुष्य के कथन में यह वेदना मौजूद है । रखे का कहना है -"तीस साल हो या तीन साल, क्या फर्क पडेगा । इसी ठौडे जीना, इसी ठाव में मरना, यहाँ का हाल तो बदलेगा नहीं ।"

इसके साथ ही उनपर अत्याचार भी लगातार होता रहता है । लेकिन दुनिया से कटे होने के कारण उनपर अधिकारियों का ध्यान पडता नहीं । रेगिस्तानी परिवेश से पूर्णत: परिचित मणि मधुकर ने सत्ता द्वारा तिरस्कृत रेगिस्तानी दलित जनता की मर्मस्पर्शी कहानी प्रस्तुत की है ।

पिंजरों में बन्द पन्नों की कथा पिंजरे में पन्ना

मणि मधुकर ने अपने उपन्यास "पिंजरे में पन्ना" में रेगिस्तान के कुछ खानाबदोश लोगों, गाडिया लुहारों और सुरध्याणी ख्यालवालों की अभावग्रस्त जीवन प्रस्तुत किया है । इस अभाव ग्रस्त

---

1. मणिमधुकर - सफेद मेमने - पृ. 11

जीवन से त्रस्त ये दलित अत्याचारों से पीडित भी है । कोई शक्ति उनका साथ नहीं देता । इस उपन्यास में अमानवीय शोषण व्यवस्था के शिकार के रूप में पन्ना को प्रस्तुत किया है । पन्ना सुरध्याणी ख्याल में नायिका है । ज़िन्दगी भर ख्याल की नायिका बने रहने की इच्छा थी उसमें । लेकिन वह पराजित हो जाती है । रिछपाल ठाकुर द्वारा उसकी हत्या होती है ।

रेगिस्तान में दलित नारी सुरक्षा के अभाव में किस प्रकार अत्याचार से पीडित है इसका मार्मिक चित्र ही पन्ना की कहानी के द्वारा उभर आया है । लेखक के अनुसार प्रत्येक नारी को यही नियति है, "पन्ना तो बार-बार जन्म लेती है..... लेकिन हर बार उसके लिए एक पिंजरा तैयार होता है ।"[1] उपन्यास के प्रत्येक नारी अत्याचार से पीडित है ।

इस प्रकार अत्याचार से पीडित इन लोगों के प्रति बाहरी दुनिया का सत्ता कोई ध्यान नहीं देती । वे अत्याचारों से पीडित अभाव ग्रस्त जीवन जी रहे हैं । इनके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आता । सभी शक्तियाँ इनका शोषण ही करती हैं । याने सत्ता द्वारा तिरस्कृत होकर सभी शक्तियों के अत्याचार से पीडित है रेगिस्तानी मनुष्य । इनके अभावग्रस्त और तिरस्कृत जीवन ही मणि मधुकर के उपन्यास का आधार है, जो दलित जीवन का एक अनदेखा पक्ष रहा है ।

---

1. मणि मधुकर - पिंजरे में पन्ना - पृ. 147

रद्दियों में अटकी ज़िन्दगी छप्पर टोला

सतीश जमाली का उपन्यास "छप्पर टोला" निम्नवर्गीय निरीह इन्सान की जीवनगाथा है । यह कूडा बीननेवाले इंसानों के जीवन पर आधारित है । ये ऐसे इन्सान हैं जिनकी रक्षा के लिए कोई सरकार या अन्य सामाजिक संस्था नहीं है । वे अपने ढंग से जीते हैं । कोई उन्हें गरीबी को रेखा से ऊपर उठाने की सूची में शामिल करे या न करे - इसकी उन्हें परवाह नहीं । वे पूरे कर्मयोगी हैं "छप्पर टोला" उन बेबस और बेकस लोगों पर लिखा गया उपन्यास है, जो पेट की भूख मिटाने के लिए कूड़ों के ढेर पर से रद्दी वस्तुओं को बीन-बीनकर इकट्ठा करते हैं और कुछ अर्थोपार्जन करते हैं । ये टूटे छप्परों में रहकर अपनी ज़िन्दगी काटते हैं । ऐसी गलाजत भरी ज़िन्दगी बसर करनेवाले तथा नीच समझे जानेवाले इन्सानों का दिल बडा है । इस घोर दरिद्रता के बीच भी मानवता का शीतल प्रकाश हमें मिलता है ।"[1]

सर्वहारा के जीवन पर लिखी गई रचनाओं में "छप्पर टोला" का विशेष महत्व है । उपेक्षित समाज में उत्पन्न, कूडे के ढेर पर पली मक्खी बुआ इस उपन्यास की कथा नायिका है । उसकी मुखाकृति को देखकर आभिजात्य वर्ग ने उसकी उपमा कूडे के ढेर पर थूथन लगाए घूमनेवाले सूअर से की है । सूअरों की-सी घृणा उत्पन्न करनेवाली मक्खी बुआ को हम देखकर भी अनदेखा करते हैं । शहरों के बडे मैदानों और तंग गलियों में फेंके गए कूडों के ढेर पर पेट भरने के अथक परिश्रम में

---

१. डॉ. बदरीप्रसाद - प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास, पृ. 156

लगी मक्खी बुआ जैसे मनुष्य हमारे सम्मुख चुनौती बनकर उपस्थित है । हमारी दृष्टि कूड़ों के ढेर पर विचरण करते सुअरों पर भले ही पड जाती है किन्तु उनके साथ भूख की समस्या से उलझे कूड़ा बटोरने वाले इन्सान की तरफ प्राय: नहीं ।

ये गरीब लोग देखने में तो कूड़ों के ढेर पर रेंगनेवाले बदसूरत कीड़ों और सुअरों की तरह लगते हैं किन्तु घोर पीड़ा, उपेक्षा और अवसाद से भरे इनके जीवन में भी जिन्दादिली है । इनकी बौनी सूरत के बावजूद इनमें हृदय की उज्ज्वलता, सरलता और सरसता की अंतर्धारा है । वे अभावों की तीव्र पीड़ा सहने के अभ्यासी हैं । उपन्यास की नायिका मक्खी बुआ में करूणा और स्नेह की उज्ज्वलता है । पति के स्वर्गवासी होने और जवान बेटे के अलग होने का दु:ख संताप वह चुपचाप सह लेती है और भावी जीवन को अथक परिश्रम से संवारने का प्रयत्न करती है । वह "छप्पर टोला" के कूड़ा बीननेवालों का प्रेरणा स्रोत है ।

वस्तुत: "छप्पर टोला" के गरीबों की ज़िन्दगी मज़दूरों से भी बदतर है । मेहनतकश मज़दूर तो आधा पेट खाकर, आधा तन ढंककर इस प्रकार की गलाजत भरी ज़िन्दगी नहीं व्यतीत करते । यह सही है कि ये मज़दूर भी तंग बिलों में ज़िन्दगी कसर करते हैं । प्रेमचन्द के "गोदान" के मज़दूर इसी तरह रहते हैं फिर भी वे "छप्पर टोला" के कूड़ा बीननेवालों की गंदी जगहों पर रहने को मज़बूर नहीं । हालाँकि ये शहरी निम्नवर्गीय लोग अपनी इस ज़िन्दगी से अलग एक साधारण

जैसा जीवन बिताना चाहते हैं किन्तु अभावों की मार ने उसे कभी आगे बढने नहीं दिया । फिर भी "छप्पर टोला" का नवोदित वर्ग इस गलाजत की ज़िन्दगी से बेहतर ज़िन्दगी जीने की इच्छा की पूर्ति में संलग्न दीखता है । जगेसर और हरचनवां ऐसे ही युवक हैं, जो कूडा बीनने के काम से ऊब गए हैं । हरचनवां ने तो गलाजत की ज़िन्दगी से अलग एक नए जीवन की शुरूआत की है ।

"छप्पर टोला" के गरीब अभावों से जूझते हैं । कूडे बीनते तो खाने को कुछ मिल जाता है अन्यथा भूखों रहना पडता है । मक्खी बुआ बुखार में तडप रही है और उसकी हालत यह है कि अपने पास कुछ है भी नहीं - न आटा, न दाल, न चावल । इस निर्धनता में भी सच्चरित्रता का दीपक कैसे जल रहा है, इस तथ्य का उपन्यासकार ने प्रतिपादन किया है । मक्खी बुआ अपने पुत्र किशना की शादी फूलो से करना चाहती थी, किन्तु जब उसे मालूम हुआ कि किशना ने एक वेश्या से शादी कर ली है, तो वह इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करती है -"रंडियों के पास जो आदमी काम करेगा, वह क्या इन्सान रह जाएगा.... अब ऐसे लडके का होना न होना सब बराबर है । मेरे लिए वह जिए या मरे, या जैसे भी रहे, मुझसे क्या मतलब ।"[1] गरीबी लाख कष्टों को झेलने के लिए बाध्य करे - भारतीय सर्वहारा वर्ग सदाचरण से नाता नहीं तोडता । मक्खी बुआ ने वैधव्य काटा ; किन्तु उसका जीवन कलंकित नहीं हुआ । "छप्पर टोला" की बेटियों

---

1. सतीश जमाली - छप्पर टोला - पृ. 93

का शील-भंग न हो, इसके लिए भी वह काफी चिंतित रही । शहरी गुण्डों द्वारा जवान फुलो को उठा लिए जाने पर वह काफी दु:खी होती है यह तो शोषक समाज द्वारा अछुत वर्ग पर किया गया अत्याचार है, जिसके कारण उनकी बहू-बेटियों की इज्ज़त का बच पाना भी मुशिकल है ।

कूडे बोनकर ज़िन्दगी काटनेवाले अछुत न केवल इलाहाबाद जैसे शहर में हो है बल्कि पूरे हिन्दुस्थान के शहरों में कामाबेश नज़र आते हैं । वे किसप्रकार का जीवन बिता रहे हैं, इसका व्यंग्यपूर्ण चित्र उपन्यास में उपलब्ध है -"कालोनी के लोग सारा दिन आँखें फाड-फाडकर देखते कि जिस गंदगी से वे इतना घबराते और भागते थे और हमेशा नाक पर कपडा दबाकर बगल के रास्ते से गुजरते थे, उसी गंदगी के ढेरों पर वे पाँच छ: लोग इस तरह खुशी खुशी पडे रहते हैं, जैसे उनके इर्द-गिर्द हलवा-पूरी के टोकरे और बर्फी मिठाई के थाल पडे हो.... कोई नया ट्रक आ जाता, तो वे लोग अपार खुशी से भर उठते और उछलते-भागते । सारा दिन वहाँ मेला-सा लग रहता है । हँसी, खुशी, मज़ाक, गाने । कभी-कभी आपस में कोई भिड भी जाता और वातावरण गन्दी गालियों से महक उठता ।"[1]

इस रचना में गरीबी पर बडा गहरा और तीखा व्यंग्य किया गया है । भक्खी बूआ बीमार है । फुलो सोचती है कि

---

1. संतोश जमाली - छप्पर टोला - पृ.21

"अगर मर भी गई तो क्या हो जाएगा.... कौन इसके लिए रोएगा और इसके जीने पर खुश भी कौन है, ऊपर से अगर वह मर भी गई तो जलाने के लिए पैसा भी न होंगे..... गरीब के मरने पर जैसे सड़क पर चदरा बिछाकर उसके जलाने लायक पैसे इकट्ठे किए गए थे, वैसा ही मक्खी बुआ के लिए भी करना पड़ेगा ।"[1] इन बेबस गरीबों की ज़िन्दगी भिखमंगों से भी गई गुज़री है ; किन्तु ये अपने स्वाभिमान को बेचकर दर-दर की ठोकरें खाने से कूड़ा बीनकर गुजारा करना बेहतर मानते हैं । मक्खी बुआ सोचती है -"सिवा दो सूखी रोटियों के मिलता ही क्या इस काम से । इससे तो भीख मांगकर खाना कहीं ज़्यादा आसान है । मगर मुशिकल तो यही है न कि भीख के लिए हाथ उठाना ही नहीं है ।"[2] इस प्रकार के अनेक जीवन प्रसंगों से भरपूर है "छप्पर टोला" । सतीश जमाली ने हिन्दी उपन्यास में कूड़ा बीनने वालों के इस अछूते प्रसंग को उठाकर दलित जीवन के और एक पहलू का सार्थक उद्घाटन किया है । जमाली की रचना इस सत्य की ओर इशारा करता है कि सत्ता के तिरस्कार के कारण ही इनके जीवन में कोई प्रगति नहीं होती । उन्हें आदमी की तरह जीने की इच्छा है । लेकिन उन्हें उसके लिए उचित अवसर नहीं मिल पा रहा है । काम करने पर भी ये लोग भूखे हैं । आज़ादी के बाद भी इनका जीवन पहले की ही तरह खाली है । इसके लिए सत्ता के बिना उत्तरदायी और कौन हो सकता है ?

---

1. सतीश जमाली - छप्पर टोला - पृ. 37
2. वही - पृ. 44

जिन्दा मुर्दों का यथार्थ : "मुर्दाघर"

सरकार या अधिकारी वर्ग की उपेक्षा के कारण पतित जीवन बितानेवाले बहुसंख्यक लोग हमारे शहरों में हैं । श्री जगदम्बा प्रसाद दीक्षित का उपन्यास "मुर्दाघर" ऐसे इन्सानों की कथा है जो जिन्दा रहने पर भी मुर्दों के जैसे है । लेखक ने इस उपन्यास में बंबई महानगरी के महासमुद्र में खो गए समाज के अत्यंत उपेक्षितों-पीडितों की करुणाभरी ज़िन्दगी की विविध तस्वीरें पेश की है । समाज के निम्न वर्ग का जीवन तो मेहनत की रोटी अर्जित करने में ही कट जाता है । किन्तु वैसे लोग जो शारीरिक दृष्टि से पंगु और अत्यंत लाचार हैं, वे सिर्फ समाज की दया-करुणा पर ही जिन्दा रह सकते हैं । इनके पास न घर, न वस्त्र और न खाने को जूठन ही है ।

"मुर्दाघर" में महानगरी के शोर-शराबे के बीच सिसकते दर्द भरे जीवन की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है । इनमें पागल, पंगु, अपाहिज भिखारी सब हैं । बंबई के फूटपाथों पर सपरिवार ज़िन्दगी बसर करनेवाले निम्नवर्गीय मज़दूर है, सडकों के किनारे-नुक्कडों पर खाली जगहों पर कायम की गई गन्दी बस्तियों में रहनेवाले लोग है, जिनकी झोंपडियाँ उजाड दी जाती हैं । शराबी है, शराब बेचनेवाले हैं - पुल की सीढियों के नीचे जुआ खेलने वाले जुआरी हैं । बस स्टेशन में अपने तन का व्यापार कर जीविका चलानेवाली वेश्याएँ है, जो नगर को पुलीस की लाठियाँ खाकर भी वहीं रहने को विवश है, कोई दूसरा उपाय नहीं है । न उनके पास रूप है, न यौवन, पर पेट भी चलाना है । अत: सारी यंत्रणाएँ उन्हें सहनी पडती है ।

"मुर्दाघर" में वेश्याओं की वेदनापूर्ण जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है । यह महानगरों के संदर्भ में एक ज्वलंत समस्या है । ये लोग तन का व्यापार चलाने के लिए शराबखाने से जुड़े रहते हैं । उनके ग्राहक हैं - बाज़ारों और जहाज़ों के कुली, मज़दूर और टैक्सी-वाले, जो सदा शराब के नशे में इनके यहाँ चक्कर काटा करते हैं । अपने इन ग्राहकों को वे नापसन्द करके भी इन्कार नहीं कर पाती क्योंकि पैसे की मज़बूरी है । सिर्फ दो रोटियों के लिए बेचैन तथा सामाजिक अन्याय और शोषण के शिकार ये वेश्याएँ इस तरह का घृणित पेशा करने को तैयार हो जाती है । वे जानती है कि दूसरी जगह मज़दूरी करके भी वे बेहतर ज़िन्दगी नहीं बसर कर सकती ।

लेखक ने वेश्याओं की झोंपड़ियों की तस्वीर खींची है । कई झोंपड़ियाँ है जिनमें काले धुएँ उगलती ढिबरियाँ जल रही है । शराब और कबाब की गंध फैल रही है । शराब के नशे में डूबे लोग और गालियाँ की तीव्र बौछार । पुलिसवाले सड़क पर दौड रहे हैं । फुटपाथी वेश्याओं में भागदड मची है । पुलीसवाले उनपर ज़ुल्म करते हैं । फुटपाथी वेश्याओं की दीवारों पर कोड़े रेंग रहे हैं । पसीने और पेशाब की बदबू चारों ओर फैल रही है । गली गन्दगी से भरपूर है । चमेली नामक की लड़की एक प्रेमी के झूठे जाल में फंसकर बंबई पहुँच जाती है । उस वक्त से वह महानगर में भटकती है । ऐसी अनेक स्त्रियाँ उस नगर में इस प्रकार का बेसहारा जीवन व्यतीत कर रही है । "मुरदाघर" की वेश्याएँ नरकीय जीवन व्यतीत करती है । यहाँ प्रेमचन्द के "सेवा सदन" की सुमन नहीं, जो कोठे पर

भी पाकीजा बनी रहती है और वेश्या वृत्ति के नाम पर सिर्फ नाच-गान करती है । "मुरदाघर" में चमेली जैसी युवतियाँ है, जो यौवन की नादानियों के कारण गलत कदम उठाई और सामाजिक भय के कारण वेश्यावृत्ति करने को मज़बूर हुई । प्रेमचन्द की सुमन ने समाज के वैवाहिक और आर्थिक जीवन की समस्याओं के कारण वेश्या जीवन को अपनाया था । सुमन ने अपना मार्ग स्वयं चुना था, किन्तु "मुरदाघर" की युवतियों को मार्ग चुनने के लिए विवश होना पडता है ।"

उपन्यास में लेखक ने भिखारियों के जोवन पर भी प्रकाश डाला है । "मुरदाघर" के बाल भिक्षुक हंसते, खेलते तथा भीख मांगते हैं । यहाँ पर अपाहिज चलते हैं मानो सारा बंबई नगर अपाहिज हो । भोखमंगों को कतारें लगी है । सडकों पर पानी की तरह दौडने वाली गाडियाँ निरंतर भागती हुई ज़िन्दगी का एहसास कराती हैं । पूरा नगर व्यस्त है । पर भिखारियों पर शायद ही कोई नज़र डालता हो । इसी प्रकार उपन्यास में उन भूखे मासूम बच्चों का चित्र भो है जो होटलों के पीछे जूठन की तलाश में चक्कर लगाते हैं । उन्हें सडक के आवारा कुत्तों से जूझना पडता है, क्योंकि वे कुत्ते उनके हिस्सेदार हैं । लेखक ने बंबई महानगरी के फुटपाथों के संपूर्ण परिवेश का यथातथ्य चित्रण किया है । कचरे के ढेर पर घूम-घूम कर कुछ ढूँढता हुआ पागल, पंख फडफडाती मुर्गियाँ, दुम हिलाते कुत्ते, गन्दे सुअर और खुजली के

---

1. डॉ. बदरीप्रसाद - प्रगतिवादी हिन्दो उपन्यास - पृ. 165

जख्मों को चाटती कुतिया, उम्र और भूख के बोझ से चिल्लाती बुढिया, मुरदों की तरह चारों ओर फैले हुए अपाहिज भिखारी, भूख से तिलमिलाते वेश्या के बच्चे, ये सारे चित्र महानगरीय परिवेश को पूर्ण रूप से सामने लाते हैं ।

यहाँ जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने जिस अभावग्रस्त जीवन का चित्रण किया है वह तमाम शहरों में जीनेवाले दलितों का चित्र है । सभी शहरों में इस प्रकार भूख से कुल बुलाते लोगों को देख सकते हैं । हम अपनी प्रगति पर संस्कृति पर गर्व करते हैं, पर ये दलित मनुष्य प्राणी जूठे पत्तों के पीछे दौड रहे हैं । शिवकुमार मिश्र के शब्दों में -"मनुष्यता के जिस अंश से हमारा साक्षात्कार "मुरदाघर" में हुआ है वह भी स्वतंत्र भारत का नागरिक है, और संविधान से उसे भी वे सारे अधिकार मिले हुए है जिनका दावा हम करते हैं । सवाल है कि आज़ाद भारत का कलंक यह गलीज तथा कमीन मनुष्यता है जो खुलेआम सडकों और गलियों में जिस्म का सस्ता सौदा करती है, चोरी और बदमाशी करती है, अवैध शराब बेचती और निकालती है या कि वह सत्ता और व्यवस्था जो एक ओर आए दिन देश की प्रगति तथा नागरिक अधिकारों का डंका पीटती है, और दूसरी रोज़ाना ऐसे तमाम नरकों की सृष्टि करती है । जगदम्बा प्रसाद दीक्षित आधुनिक सत्ता तथा व्यवस्था के इस नरक को उद्घाटित करने में बहुत निर्मम रहे है ।"[1] वास्तव में इसके लिए सरकार और उससे संबंधित अधिकारी पूर्ण रूप से उत्तरदायी है । क्योंकि उनके

---

1. शिवकुमार मिश्र - प्रेमचन्द विरासत का सवाल - पृ. 150

उद्धार का दायित्व उन पर निहित है । लेकिन वे उसका नज़रन्दाज़ कर रहे हैं । इसलिए इनकी पीडाग्रस्त जीवन में कोई प्रगति नहीं दीखती । यह स्थिति तो हमारे देश के लिए अपमानजनक है । आज़ादी के इतने साल बाद भी यह दर्दनाक स्थिति कायम है । जगदम्बा प्रसाद दीक्षित ने नगरों-महानगरों में जीवित इन दलितों के मार्मिक जीवन की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है ।

इस प्रकार दलित जन साधारण योजनाबद्ध ढंग से दबाया जाता रहा । दमन की प्रक्रिया ऐसी चलती रही कि धीरे-धीरे बाद की पीढियाँ यह अनुभव करने लगी कि अब इन्हें व्यक्तिगत एवं सामाजिक स्वातंत्र्य नहीं है । उन्हें हर कहीं सामाजिक और सांस्कृतिक उपेक्षा सहनी पडतो है । आज़ादी के बाद भी इनकी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया । शोषित बहुसंख्यों में एक विभाग के लिए संविधान में विशेष प्रावधान रखे गये, सुविधाएँ रखी गई लेकिन अन्य दलितों के समान ये दलित जन साधारण भी अपने अधिकारों से हमेशा वंचित ही रहे । इसका प्रमुख कारण यही है कि सत्ता के नेतृत्व में उच्चवर्ग का आधिपत्य है । वे दलितों के हित में जितने नियम बनाए गए हैं उन्हें अमल करना नहीं चाहते । वे अपने अधिकार के बूते पर दलितों को सताना ही चाहते हैं । इसलिए दलितों ने पाया कि सत्ता उनके विपक्ष में हैं ।

निष्कर्ष

सत्ता अपना विकराल रूप लेकर निम्नवर्ग के विपक्ष में उपस्थित है । इसी कारण से उनकी जीवन सापेक्ष माँग, समता का व्यवहार, आदमी के बीच आदमी की तरह जीने का अधिकार सब सपने ही रह गये हैं । चाहे वह सरकारी नौकर हो, छात्र हो, खेत में काम करनेवाले हो या नहीं सत्ता का कोई न कोई रूप उस पर हमला करता ही रहता है । दफ्तर में उच्च अधिकारियों के अत्याचार का शिकार हैं बालेसर । वहाँ रोज़ उसे अपमानित होना पडता है । इस अपमान, तिरस्कार और प्रताडनाओं को सहते-सहते वह पागल हो जाता है । संवैधानिक संरक्षण व प्रावधानों के रहते हुए भी निम्न वर्ग को न केवल उनके मानवीय अधिकारों से वंचित किया जाता है वरन् प्रतिहिंसा की भावना के साथ प्रताडना भी की जाती है । इसीलिए कालो को चौधरी के विरोध में आवाज़ उठाना पडता है । वह निचली सीढी पर अपने ही बालों को, ऊपर उठाने का प्रयास करता है । बहुत स्वाभाविक रूप से वह पराजित हो जाता है । "महापात्र" की कमला की कहानी निम्न वर्ग पर पुलीस के अत्याचार का यथार्थ चित्र है । सत्ता का यह रूप हमेशा उच्चवर्ग का हथियार बनकर मौजूद है ।

सदियों से उच्चवर्ग के शोषण और घृणा का शिकार यह वर्ग आज भी अपने सामान्य अधिकारों को हासिल करने के लिए संघर्ष कर रहा है । इस में कोई सन्देह नहीं है कि स्वतंत्रता प्राप्ति

के बाद भी इस वर्ग पर आर्थिक और सामाजिक दबाव इतना अधिक है कि वह अपने देश में तृतीय श्रेणी का नागरिक बना हुआ है । इस स्थिति से मुक्ति की कामना उनमें मौजूद है । उसके लिए वह निरंतर संघर्ष करता रहता है । यह एक समकालीन सामाजिक यथार्थ है । दलित जीवन पर लिखे गये साठोत्तर हिन्दी उपन्यास इस सत्य का साक्ष्य बनकर हमारे सामने मौजूद हैं । उच्चवर्ग द्वारा संचालित इस व्यवस्था के गलत व्यवहारों का पर्दाफाश करने में ये उपन्यास सफल निकले हैं ।

अध्याय : चार

दलित जीवन और धर्म

धर्म और भारतीय समाज

प्रागैतिहासिक काल से ही भारत में जाति-व्यवस्था मौजूद है । प्रारंभ से ही इस व्यवस्था को लगातार चुनौतियाँ मिलती भी रही । परन्तु ये चुनौतियाँ इसको खतम कर पाने में असफल रहीं । एक अत्यंत बलवती सामाजिक शक्ति है जाति की, जिसका खोखलापन स्वयं सिद्ध है । जाति व्यवस्था आत्मिक तथा राष्ट्रीय विकास के लिए हानिकारक ही है । मनुष्य सब समान अधिकार रखनेवाले हैं चाहे वह ब्राह्मण हो या मेहतर । गाँधीजी जाति भेद के सख्त खिलाफ थे । उनका यह कथन साबित करता है कि यह विभाजन समाज के स्वस्थ विकास के लिए घातक तत्व है, यह बिलकुल खोखला है । इस का कोई युक्ति संगत आधार नहीं है ।

खोखलेपन सिद्ध होने पर भी इसका भावनात्मक अतिक्रमण अथवा व्यावहारिक सुधार कितना दुष्कर है ? सैकडों वर्षों से नाना प्रकार के समाज सुधार-संबंधी आन्दोलन होते आए है परन्तु बराबर ऐसा अनुभव

---

1. Caste has nothing to do with religion. It is a system whose origin I do not know and do not need to know for the satisfaction of my spiritual hunger. But I do not know that it is harmful both to spiritual and national growth... All are good, lawful and absolutely equal in status. The callings of Brahmana-spiritual teacher - and a scavanger are equal and their due permance carries equal merit before God and at one time seems to have carried identical reward before man both were entitled to their livelyhood and no more - Mahatma Gandhi - The essence of Hinduism.

होता है कि इस मूल रोग की जड़ें हिल-हिलकर भी, उखड़ते-उखड़ते भी जम जाती हैं । यह सत्य है कि जाति व्यवस्था के द्वारा ही शासक वर्ग अत्याचार और शोषण को संस्थागत रूप दे पाने में सफल हो पाए है । वास्तव में श्रम-श्रमिकवर्ग तथा महिलाओं के खिलाफ अनासक्ति का भाव जिस हद तक जाति-व्यवस्था में दिखाई देता है उस हद तक किसी भी अन्य शोषक वैचारिक व्यवस्था में दिखाई नहीं देता ।

इस व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष करने तथा इस जाति व्यवस्था की चक्की में पिसने वाले दलित जनसाधारण की रक्षा करने के लिए सभी समाजवादी ताकतों को उन तत्वों से अवगत होना ज़रूरी है जिसके कारण जाति पर आधारित भेद-भाव तथा शोषण भारतीय समाज के सिर पर किसी दु:स्वप्न की तरह मंडराता रहता है । दलित जीवन पर लिखे साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में उन तत्वों को पकड़ पाने का सशक्त प्रयास द्रष्टव्य है ।

मेहतर जाति और धार्मिक शोषण के विभिन्न आयाम: नाच्यो बहुत गोपाल:

भारतीय सामाजिक जीवन के सर्वाधिक विवादास्पद समस्याओं में जाति, छुआ-छुत और अछुतोद्धार के प्रश्न उलझे हुए हैं । इन उलझनों में हरिजन बनाम मेहतर की दबी उलझन और दब गई । महात्मा गाँधी के अछुतोद्धार आन्दोलन के केन्द्र में जो हरिजन आये वे स्थितियों वश प्राय: एक जाति विशेष की संज्ञा के रूप में विकसित होते गए । इस स्थिति में भंगी या मेहतर लोगों का उपेक्षित जीवन उपेक्षित ही रहा । उनकी

स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं आया, प्रगति नहीं आयी । गाँधीजी के प्रयत्नों के फलस्वरूप इनकी निरन्नता दीनता एक राजनीतिक विचार बन गए । फिर भी मेहतर जाति का वास्तविक अस्तित्व उनकी क्रूर नियति की भाँति अंधकार में डूब रहा ।

मानवीयता को लज्जित करनेवाली उनकी आजीविका घिनौना व्यवसाय या पेशा एक ओर तथा उनकी अपनी अनुश्रुतियाँ, परंपराएँ, विश्वास और जातिगत इतिहास की कचोटें दूसरी ओर ; सब कुछ अकथित अन्धेरी तहों में दबे रहे - "दुनिया में बडे बडे गिरे लोगों की तकदीरें पलट गयी । आफ्रिका के लोग जो कल तक गुलाम थे, अब खुद मुख्त्यार हो गये । दुनिया में इत्ता इन्कलाब ज़िन्दाबाद और आज़ादी के नारे लग गये ; पर हम महतरों को किसी ने आज़ाद नहीं किया बाबूजी"[1] जो कभी का मेहतर रहा, वह मेहतर बना नाचता रहा और बदलती शताब्दियों का व्यंग्य और गाढा होता गया । बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक और अन्तिम चरणों को समानान्तर तथा आमने, सामने रखकर कथाकार अमृतलाल नागर ने अपने उपन्यास "नाच्यौ बहुत गोपाल" (1978) में इतिहास की उक्त दुर्गम और अंधेरी तहों में से मेहतर जाति का नया अन्वेषण कर उसे रचनात्मक स्तर पर पहली बार एक कडवे सामाजिक यथार्थ के रूप में प्रस्तुत किया है ।

उपन्यास के कथानक का उत्स उपन्यास की नायिका निर्गुनिया का जीवन वृत्त है । वह नियति के कराल हाथों वासना के

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 31.

दलदल में पडे विलासी लोगों के चक्रव्यूह में जा पडती है । जिसमें उसकी माता भी सम्मिलित है । अल्प वय में ही वह उन लोगों द्वारा वासना और विलासिता की मरीचिका में फँसा दी जाती है । समय की गति के साथ वह बूढे और शंकालु मसूरियादीन की पत्नी बना दी जाती है जो उसके यौवन को छक कर भोगना चाहता है पर शरीर साथ नहीं देता । मसूरियादीन को यह दैहिक लिप्सा निर्गुन को तृप्ति तो देती नही वरन् उसकी काम क्षुधा को दीप शिखा बना देती है । बूढा मसूरिया दीन उसे ताले में बन्द रखता है ।

उसकी इस अवस्था का मार्मिक चित्रण उपन्यास में हुआ है । निर्गुनिया के शब्दों में -"मज़बूरियाँ-सी-मज़बूरियाँ थी बाबूजी ? बस यों समझ लीजिए कि उस साले हरामी के पिल्ले, मेरे आर्यपुत्र ने चार मंजिल की पक्की संगीन हवेली बनवाई थी । उसके एक-एक द्वार पे ताले जड जाता था साला । माफ कीजिएगा बाबूजी, आपके सामने गालियाँ निकल गई, मगर मैं दूँगी । साले ने गली की तरफ के जितने भी खिडकी, दरबज्जे थे, सब में ताले ठोक रखे थे । ऊपर की सीढियों पर भी मज़बूत ताला जड दिया था, जिससे मैं छत से फांदकर किसी यार से आँखें न लडा सकूँ या छत से फांदकर अपनी जान दे दूँ ।"[1]

हवेली में दिन भर में केवल एक बार किसी की सूरत दिखाई देती है तो वह टट्टी साफ करनेवाली मेहतरानी की । एक बार

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 59

मेहतरानी के छुट्टी पर जाने के कारण उसका बेटा सफाई के लिए आने लगा । उसकी जवानी में निर्गुनिया को अपनी भूख की तृप्ति की राह दिखाई दी और उसने अपनी ओर से प्रयास करके उसे लडके से पुरुष बना दिया । उसे प्रेम से आंधी होकर निर्गुन उसके साथ भाग जाती हैं और ब्राह्मणी निर्गुन निर्गुनिया मेहतरानी बन जाती है । वह एकदम मेहतरानी नहीं बन सकी । काफी शारीरिक व मानसिक यंत्रणाएँ सहने के उपरांत थक हार कर टूट जाने के बाद वह मेहतरानी बनी -"अब मैं दिल से ब्राह्मणी नहीं, मेहतरानी ही हूँ सरकार । हर तरह से अभागी हूँ । मेरे ऊपर तरस खाइए । मेरे भीतर जाने कहाँ से चतुराई समाई बाबूजी कि मैं ने हाथ जोडकर कहा - सरकार, जो गलती कर ली उसे तो निभाना ही पडेगा ।"[1]

निर्गुनिया के मोहन छावनी में एक अंग्रेज़ जैक्सन की "यंग क्रिश्चियन लीग" के बैण्ड में काम करता था । अपनी यौवन संबंधी अप्राकृतिक आदतों के कारण डेविड नामक लडके को अपने यहाँ रखने के कारण डाकू वहीदा की उस पर नज़र पडती है और परिस्थितियाँ ऐसी बन जाती है कि मोहना को डाकू वहीदा के गिरोह में सम्मिलित होना पडता है । मोहना के वहीदा डाकू के दल में सम्मिलित हो जाने पर निर्गुनिया फिर अकेली और निराश्रित हो गयी । एक ओर तो उसका अतीत उसके लिए स्वयं बेडी बना हुआ था, ऊपर से जवानी और सौंदर्य के लिए एक नारी और वह भी मेहतरानी, किंतु विषम और विकट परिस्थितियों में भी धैर्य न खोकर चतुराई व परिश्रम से उसने अपने आप को बचाया ही नहीं अपने परिवार व बच्चों को बनाया भी सही तथा समाज में अपनी हैसियत बनायी । मोहना के डाकू होना उसके लिए

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 227

रक्षा कवच भी रहा और कष्टों का कारण भी बना । वह मोहना को उसकी निष्ठुरता के बावजूद पूरे मन से प्रेम करती रही । मोहना भी उससे मिलता रहा दुस्साहसपूर्वक । इन सब के संयोग से उपन्यास में निर्गुनिया के चरित्र को एक अनुपम विकास मिला है ।

उपन्यास में भंगी बस्ती को पहली बार एक जबरदस्त विचार के रूप में उपस्थित किया गया है । इस विचार में जातिगत श्रेष्ठत्व को ध्वस्त कर देनेवाली कलात्मक शक्ति को योजित किया गया है । जाति भेद और छुत-अछुत का दुराग्रह हिन्दु समाज में धुन की तरह इस प्रकार लगा हुआ है कि पढ लिख जाने पर भी इनकी कोई गति नहीं होती । इस तथ्य का उल्लेख नागरजी ने किया है -"मेहतरों को इस बात का भी घोर मानसिक कष्ट है कि हरिजनों में भी मेहतर वर्ग निकृष्ट कोटि का हरिजन है । उसकी आवाज़ अभी नक्कार खाने में तूती की तरह अनसुनी रह जाती है । मेहतरों में अब अधिकांश लडके छठी - सातवीं या आठवीं तक पढे लिखे मिल जाते है, फिर उन्हें नाना कारणों से पढने की सुविधाएँ नहीं मिलती और वे हताश होकर अपने वंशगत पेशे में लौट आते हैं । उनकी बोलचाल की भाषा में अब कितने ही अंग्रेज़ी के शब्द धुल-मिल गये हैं । सवर्णों की कितनी ही पूँजीवादी घृणित आदतें, भी अपना ली गयी है, लेकिन सही विकास की तमाम राहें अब तक बन्द है । कुछ लडके हाई-स्कूल पास है, कुछ बी.ए.तक पहुँच गए । एक भंगी चिंतामणी जी तो बनारस युनिवर्सिटी से एम.ए. करके फिर मजिस्ट्रेरी की परीक्षा में बैठे वह भी अनुसूचित जाति के रिज़र्व कोटे के अंतर्गत नहीं बल्कि खुले और आम कम्पीटीशन में । परीक्षा में पास होके फर्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट तक बन गए । एक सज्जन बी.ए. एल.एल.बी. वकील बन गए । लेकिन

जब कोई मुवक्किल ही उनके पास न आया तो झख मार कर उन्हें नौकरी करनी पड़ी । जो लोग ऊँची से ऊँची दीवारों को भी फलांग कर अपनी महत्त्वाकांक्षा की मंजिलों पर जैसे-तैसे आगे बढ़ते हैं, उन्हें अन्त में जाकर प्राय: चूहा का चूहा ही बन जाना पड़ता है । यह गति क्या देव निर्मित है ? नहीं वह सामाजिक कुव्यवस्था की देन है ।"[1]

इस प्रकार दलित जीवन संबंधी अनेक मार्मिक प्रसंग उपन्यास में मिलता है । उनके नरकीय व जुगुप्सापूर्ण जीवन का कई रंगों में चित्रण लेखक ने किया है जिसमें कहीं भी कृत्रिमता और उथलेपन के दर्शन नहीं होते । इसके मूल में नागरजी का श्रम, संवेदना एवं सूक्ष्म निरीक्षण है । यहाँ अपने ही जैसे लोगों का मल-मूत्र साफ करने और उसे सिर पर उठाने की विवशता को सदियों से ढोनेवाली जाति की व्यथा को वाणि देने के प्रयास में लेखक ने मेहतर जाति और सवर्णों के इर्द-गिर्द बंधी हुई मोटी जकडबंधी और उस दीवार के दोनों छोरों पर अपने-अपने पले हुए अहं तथा मिथ्याडंबरों का सजीव चित्रण किया है । दोनों अन्तपुरों में प्रवेश करने के लिए यह आवश्यक है कि इस दीवार को गिराया जायें । इसे गिराना यद्यपि मुश्किल है, तथापि सवर्ण सभ्यता के मिथ्या दंभ तथा ओढे हुए आभिजात्य संस्कारों को अनावृत करने में नागरजो ने कोई कसर नहीं छोडी है । "सदियों पहले जिन दुर्बलों को दास बनाकर अपने सिरों पर मालिकों का मल ढोने के लिए पीढी दर पीढियों तक के लिए बाध्य किया गया था, वह दमन तो अब भी समाप्त न हो सकेगा । मनुष्य जाति अपने आदिम संस्कारों का बोझ किसी न परिवेश में अब तक ढो रही है । इसके सिलसिले का अंत अभी भी नहीं हुआ।"[2]

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 32।
2. वही - पृ. 252

नागरजी ने जाति, वर्ग तथा वर्णों में बंटे समाज तथा उनमें प्रचलित रूढियों पर तीव्र प्रहार किये है और वर्ण एवं जाति व्यवस्था संबंधी कुछ जलते हुए चुनौती भरे प्रश्न उठाये हैं । जाति व्यवस्था के बल पर विलास जीवन बिताने वाले सवर्णों के खिलाफ उनकी प्रतिक्रिया इसप्रकार है कि -"जिस आबरूदारी आप बखान कर रहे है वह पराजित जातियों का मुँह चढाने के लिए ही ईजात हुई थी । हम आबरूदार है, खुद काम नहीं करते, बल्कि अपनी ही तरह के दूसरे लोगों पर आतंक जमाकर उनसे करवाते है ।"[1]

हम देखते है कि समाज में निम्न जातियों के संबंध में अनेक भ्रामक धारणायें है । उन्हें अपने जैसे मनुष्य के समान स्वीकार करने के लिए समाज के सवर्ण कहे जाने वाले मनुष्य तैयार नहीं है । दलितों की इस पतितावस्था पर लेखक ने अपनी दृष्टि डाली है । निम्न जाति के लोगों के प्रति समाज में जो भ्रामक धारणायें व्याप्त है उनका निराकरण करते हुए नागरजी लिखते है -"मैं समझता हूँ हम लोग जिन्हें छोटी जाति वाले कहते है उनके संबंध में हमारी कुछ धारणायें बडे गलत तरीके से बांध गई है । एक तो हम समझते हैं कि यह तथाकथित नीच जातियाँ नितांत चरित्र शून्य होती है । और दूसरे हमारी धारणा यह बंधती है कि उन्हें केवल हमारी सहानुभूति तथा दया ही चाहिए । मैं समझता हूँ, यह दोनों बातें गलत है । यह हमसे केवल न्याय चाहते है ।"[2] साथ ही लेखक ने सवर्णों की चरित्र हीनता पर भी प्रकाश डाला है ।

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 22
2. वही - पृ. 24

उपन्यास की नायिका निर्गुनिया ब्राह्मण कहलाने वाले सवर्णों पर तीव्र कटाक्ष करती है -"एहं-भाड गई ऐसी बम्हनई । वो भी बाम्हनी ही है जिसने जवानी भर मेरे बाप को चूसा और बुढापे में भी हवस नहीं बुझी तो मेरे नाम से बसंत बाबू बनाया । उनकी तबीयत मुझ पर आ गई तो रिश्वत देके अपना काम चलाने लगती । फिर पेटें गिराने की नौबत आई तो डर के मारे अपने पुराने यार, इस बूढे बन्दर को ब्याह दिया - यह सब लोग क्या ब्राह्मण कहलाने लायक है ।"[1]

श्रीमती निर्गुनिया राय साहब पंडित बटुक प्रसाद के संबंध में भी कहती है जो ब्राह्मण होकर भी खुले आम रंडी रखते थे । बाद में मेम भी रखी । उनके ऊँच कुल की ब्राह्मणी घरवाली ने उनके नौकर खडक बहादुर तथा अन्य बहुत से नौकरों को अपनी कामवासना की तृप्ति का साधन बनाया । वसन्तलाल दरोगा साहब स्वयं ब्राह्मण होते हुए प्रत्येक जाति की औरत से काम संबंध स्थापित करने में पीछे नहीं रहे । इसलिए निर्गुनिया कहती है - "षडे त्रिपुण्डधारी पंडितों को भी मैं ने अछूत इस्तितियों के पीछे-पीछे कुत्ते की तरह घूमते बहुत देखा है । लुक-छिपकर मुँह काला करने के बाद फिर उजागर में मूछों पर ताव देके "हटो-बचो" चिल्लाना शुरू कर देते हैं ।"[2] श्रीमती निर्गुनिया छूत-अछूत की इस गड-मड में यह सवाल उठाती है कि इस समय कौन ब्राह्मण है और कौन मेहतर । नागरजी इस प्रश्न का दार्शनिक उत्तर देते हैं -"यह जीव जो आज हमारी काया में ब्राह्मण बनकर बैठा है । पिछले जन्मों में कीट-पतंग, चंडाल, वैश्य, म्लेच्छ जाने क्या रहा होगा । इसलिए जीव को ब्राह्मण नहीं कहा जा सकता । काया भी ब्राह्मण नहीं कहला सकती । सब की एक जैसी होती है ।"[3]

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 69
2. वही - पृ. 17
3. वही - पृ. 17

उपन्यासकार ने मेहतर समाज में उभरनेवाली नई मूल्य चेतना का भी यत्र-तत्र उल्लेख किया हैं । एक स्थान पर मोहन कहता है -"हम मेहतर तो क्या हुआ । अब अछूत उद्धार का ज़माना है । हम लोगों की फरियाद सुनने के लिए एक गांधी महात्मा आ गया है ।"[1] मोहन तथाकथित उच्च जातियों का विरोध करता है -"मुझे नफरत है इन सब ऊँची कौम वालों से । साले सोहबत के शौक में हमारी औरतों को अकेले में दबोचते हैं । सातों करम करके बाहर से उजले बनते हैं और उन्हीं से जो बच्चे होते हैं, उन्हें छूते हुए भी घिनाते हैं । मेरा बस चले तो एक दिन छावनी के सारे तोपखाने को इन सरीफ और बड़े आदमी कहलानेवाले जल्लादों की बस्तियों पर लगवाकर इन हिन्दू मुसलमानों को एकसाथ धड़ाम उडवा दूँ ।"[2]

निर्गुनिया यह व्यक्त करती है कि दयानन्द सरस्वती के आन्दोलन और प्रचार से भारत भूमि की नारियों का भाग्य सही अर्थों में पलटा, शिक्षा का प्रचार हुआ । सैकडों हज़ारों संख्या में कन्या पाठशालायें खुलाई गई । उन्हें संध्या वन्दन करने तथा वेद पाठ करने की अनुभूति प्राप्त हुई । आर्य समाज आन्दोलन तथा गांधीजी के दलितोद्धार आन्दोलन से भी नारी तथा दबी हुई जातियों की दशा में पर्याप्त मात्रा में सुधार हुआ । श्रीमती निर्गुनिया भारत में इन सामाजिक परिवर्तनों की प्रक्रिया के संबंध में कहती है -"आर्य समाज और गांधी महात्मा जी की कांग्रेस ने इन बुराइयों को भारत देश से उखाड़ फेंका । यों तो बुराई-भलाई, कोई भी संस्कार हो एकदम जड से जाता नहीं है, उसका लोप नहीं होता । हमारे यहाँ अब भी पच्चासों-सैकडों बुरी-भली बातें फिर से उमड आई हैं ।"[3] यों नागरजी

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 87
2. वही - पृ. 117
3. वही - पृ. 211

अपने उपन्यास 'नाच्यौ बहुत गोपाल' में समाज परिवर्तन की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए इस सत्य की ओर संकेत करता है कि समाज से पूर्ण रूप से जाति व्यवस्था की बुराई को उखाडने में हम असमर्थ निकले हैं । वर्तमान काल में भी दलित-जनसाधारण के प्रति धर्म का अमानवीय व्यवहार यहाँ स्पष्ट है । नागरजी ने भंगी जीवन के घृणित एवं अमानवीय रूप सि२पर मैल ढोने की परंपरा के मूल में जाकर उसके सामाजिक कारणों का विश्लेषण किया है तथा इस मानवीय शोषण के विरुद्ध समतावादी मानवीय दृष्टि पर बल दिया है ।

डूम जाति और धार्मिक शोषण का इतिहास एक टुकडा इतिहास

जाति व्यवस्था की अमानवीयता के विरुद्ध आवाज़ है श्री गोपाल उपाध्याय का "एक टुकडा इतिहास" । भारतीय हिन्दु समाज में सदियों से जाति एवं धर्म के नाम पर मनुष्य को मनुष्य से हीन मानकर अमानवीय अत्याचार करने की व्यवस्था चली आ रही है । सचमुच यह उपन्यास इस इतिहास के एक पहलू का उद्घाटन करता है । उपन्यास की नायिका चनुली (चन्दी देवी) को अमानवीय जाति व्यवस्था में घोर प्रताडना सहनी पडती है और वह इस व्यवस्था को बदलने के लिए जन जागरण एवं जन-संघर्ष का कार्य चलाती है ।

चनुली डूम जाति की है जो सदियों से शोषित है । आठवीं तक पढी हुई इस सुन्दर कन्या के रूप और यौवन पर मुग्ध होकर एक ब्राह्मण युवक कान्तमणि उसे अपना घर ले आता है । यहाँ से उसकी और चनुली की सामाजिक प्रताडना का दयनीय अध्याय आरंभ हो जाता है ।

कान्तमणि थोडे ही समय में इस संघर्ष से टूटकर बिखर जाता है और जाति में पुनः सम्मिलित होने के लिए अपने बच्चे और पत्नी का परित्याग तक करने को तैयार हो जाता है । वह हाथ जोडकर पंचों से करता है -"जैसी पंचों की राय हो आप लोग अगर अब भी मुझे अपनाने को तैयार है तो मैं चनुली और रतन को छोड सकता हूँ । मुझे अब तिरस्कृत न रखा जाए ।"[1]

पंचों के निर्णयानुसार कान्तमणि पत्नी व बच्चे का परित्याग कर देता है । चनुली इस निर्णय का विरोध करती है और अपनी संपूर्ण उग्रता के साथ कान्तमणि और अन्य ब्राह्मणों का विरोध करते हुए कान्तमणि के घर को अपना घर मानते हुए साधिकार उसमें रहना चाहती है । इस पर बचीराम, शेरुआ और कान्तमणि रस्सी से उसके हाथ-पाँव बाँधकर जानवरों की तरह घसीटते हुए दूर खेतों में डाल आते हैं । यों निरीह रतन और चनुली इस विस्तृत संसार में अकेले, असहाय रह जाते हैं । उनका अपना कोई नहीं होता न कोई परिजन न घर न बार । इसके बाद कितनी ही सत्यों उसके सामने अनावृत होने लगते हैं । गाँव के मन्दिर का पुजारी बाबा प्रयागगिरी रात के अंधेरे में उसी चनुली के हाथ का बना खाता है जो दिन के उजाले में उसे अछूत ठहराया करता था । यही नहीं वह चनुली के सामने पंच फैसला का रहस्य भी खोल देता है कि कान्तमणि से पंचों ने दो हज़ार रुपए लेकर उसे वापस जाति में लिया है ।

चनुली एक गाँव में मास्टरनी बन जाती है तो लोग उसे स्वीकार नहीं करते ; गाँव के लोगों का कहना है -"उनके अपने बच्चे,

---

1. गोपाल उपाध्याय - एक टुकडा इतिहास - पृ. 16

बीठ-ब्राह्मण की कन्याएँ, अंबा, अंबिका, अंबालिका सी पवित्र कन्याएँ डूमणी से दान ले ? डूमणी को सिर झुकाकर प्रणाम करें ? जीवन भर डूमणी की शिक्षा पर जिए ?. और नत मस्तक रहें ?"[1] इस सामाजिक प्रताडना के बाद चनुली को कहीं रहने का ठौर नहीं मिलता है । चनुली भटकती-भटकती और बाबा प्रयागगिरी जैसे पाखण्डियों से अपनी इज्जत बचाती हुई अल्मोडा के कांग्रेस कमटी के दफ्तर का पता लगाकर वहाँ चली जाती है । वहाँ पर उसे जिले के महान हरिजन नेता मुंशीरामजी मिल जाते हैं । वे कार्यालय में ही चनुली के रहने व खाने-पीने की व्यवस्था कर देते हैं और उसे हरिजन महिलाओं में जागृति लेने का काम सौंप देते हैं । मुंशीरामजी ने उसे गांधीजी का व अन्य महात्माओं का साहित्य पढने को दिया । उसी के आधार पर चन्दी देवी ने हरिजनोद्धार का बिगुल बजा दिया । इस बिगुल से सारे हरिजनों में जोश और उत्साह की नयी लहर दौड गई । इसके लिए वह गाँव-गाँव पैदल घूमती और कई कष्ट उठाती है । वह आन्दोलन चलाती, धरना देती और हरिजनों को मन्दिरों में प्रवेश कराती, जेल जाती किन्तु कभी हिम्मत नहीं हारती ।

चुनाव में चन्दी देवी कांग्रेस के विरोध में जनरल सीट से चुनाव लडती है । चन्दी देवी कुछ ही वोटों से हार जाती है । अपनी हार पर वह कहती है -"नहीं मैं हारी नहीं हूँ । एम.एल.ए. ही तो नहीं हुई न कुर्सी की भूख भला मुझे हो भी क्या सकती है ? लहंगा पहनकर दरोती चलाने वाली गाँव की छोकरी हूँ मैं । समाज की थोथी दरारों को पाटने की

---

1. गोपाल उपाध्याय - एक टुकडा इतिहास - पृ. 85-86

मेरी इच्छा थी । उसमें मैं जीत गयी हूँ इस को लडकी को इतने बडे जातिवाद के नारों के बावजूद बीठों ने ब्राह्मण-ठाकुरों ने वोट दिए है । सबने अपनी लडकी माना है मुझे ।"[1]

इस हार के बाद उसे कॉंग्रेस आफीस खाली करना पडता है । वह जोधिया आकर हरिजन आश्रम चलाती है । हरिजन आश्रम का नाम वह "समता आश्रम" रखती है और हरिजनों के बच्चों को सभ्य सुसंस्कृत बनाने में जो-जान से जुट जाती है । वैसे वह बीठो (सवर्णों) के बच्चे भी बुलाई थी किन्तु वे अपने बच्चों को इसके आश्रम में भेजने को तैयार नहीं होता । उसमें आश्रम चलाने से सवर्ण नाराज़ हो गए और उसने समता आश्रम को आग लगा दी । गरीब बच्चों के सभी बिस्तर, पुस्तकें व अन्य सामान वहीं जलकर राख हो गए ।

अपने क्षेत्र के नेता नेतारामजी से गाँव वालों ने "समता आश्रम" को हटाने के लिए माँग की तो चन्दी देवी ने अपने पूरे साहस व ईमानदारी से समाजवालों को इस प्रकार ललकारा -"आज सब चुप है । जानवरों की बजाय उस पाँच नाली ज़मीन में कुछ आदमियों के बच्चे इन्सान बन रहे हैं तो क्या यह बडा घटिया काम हो रहा है । गाँव वाले तो कभी न देते । एस.डी.एम ने ज़मीन दे दी, बेकार तो रहती थी ही, तो कोई गुनाह कर दिया मैं ने ? और फिर आश्रम का नाम "समता आश्रम" है । इसमें बीठों के बच्चों के प्रवेश के लिए प्रतिबन्ध नहीं है । यह "समता आश्रम"

---

1. गोपाल उपाध्याय - एक टुकडा इतिहास - पृ. 140

तो सबके लिए खुला है । मैं इसलिए इस संस्था पर जान दे रही हूँ क्योंकि मैं भुक्त भोगी हूँ । और मैं न बीठ रह गयी हूँ न डूम । इसलिए मैं ही "समता आश्रम" के लिए पूरी तरह योग्यता हूँ क्योंकि मैं जातिहीन हूँ ।"[1]

अपनी एक अन्य सहयोगी चंचला टम्टा द्वारा आश्रम संभाल लेने पर चन्दी देवी स्वतंत्र हो जाती हैं और आश्रम जलानेवालों पर मुकदमा दायर कर उन्हें जेल भिजवा देती है । साथ ही वह हरिजनोद्धार का कार्य भी करती रहती है । लेकिन चंचला एक सवर्ण व्यक्ति के साथ भाग जाती है । चनुली नहीं चाहती है कि चंचला पुनः दूसरी चनुली बनें । एक दिन चंचला द्वारा चनुकी को खबर मिलती है कि कान्तमणि लकडी काटने के लिए जंगल गए थे, पेड से गिर पडे । बहुत घायल हुए । काफी सोच विचार के बाद भी वह अपने को रोक नहीं पाती है और कान्तमणि के पास चली जाती है । अस्पताल में कान्तमणि को खुन चढाना था । चनुली ने अपने ही शरीर का खुन निकालने और चुसनेवाले कान्तमणि को खुन दिया । कान्तमणि को उसने कुछ समय के लिए बचा लिया । वह चन्दो देवी से माफी माँगता है । लेकिन दूसरे दिन सुबह कान्तमणि की तबीयत खराब हो जाती है और वह बच नहीं पाता । कान्तमणि के शव को उठाने, श्मशान घाट तक ले जाने और जलाने को कोई तैयार नहीं होता । जाति वाले ब्राह्मण लोग कोई नहीं आए । सभी क्रिया कर्म रतन ने अकेले किया ।

कान्तमणि के मृत्युपरान्त चनुली उसी के मकान में रहती है । यह उसके बन्धु-बान्धव को नहीं भाया । उसके द्वारा डराने पर वह

---

1. गोपाल उपाध्याय - एक टुकडा इतिहास - पृ. 166

कहती है -"कान खोलकर सुन लो, मैं डुमणी हूँ । चाहे बिठणी, पर कान्तमणि की बीबी हूँ और इसी घर में रहूँगी । रहूँगी और रहूँगी । देखती हूँ तुम्हारे बन्धुओं में कितना ज़ोर है । अपने पति के घर में हूँ । कोई तुम्हारी देहरी में नहीं पडी हूँ । तुम होते कोन हो मेरे पति की ज़मीन हडपने वाले । मेरे घर में, मेरे खेत में जाओगे तो कसम खाकर कहती हूँ गरदन झाडकर रख दूँगी । ये याद रखना ।"[1]

चनुली अपने आश्रम के नाम में परिवर्तन कर "श्रीकान्त-समता आश्रम" रख देती हैं । अब तक आश्रम में पाँच सौ बच्चे हो जाते हैं जिनमें बिठों के बच्चे भी है । कान्तमणि के मकान में रहते हुए वह हरिजन आन्दोलन चलाती है । मन्दिर में प्रवेश करने हेतु किए गए एक आन्दोलन के दौरान हरिजनों व चन्दी देवी पर धडा-धड लाठियाँ पडती है । वह मूर्छित हो ज़मीन पर गिर जाती है । उसे बरेली सेन्ट्रल जेल में रखा जाता है । चन्दी देवी को छुडाने के लिए सभी स्कूल, कॉलेज, बन्द रखे जाते हैं । हडतालें की जाती है । चन्दी देवी को पडे-पडे चैन नहीं मिलता । वह पर्वतीय भूमिहीनों की तराई भंवर में भूमि दिलाने का अभियान चलाना चाहती है । स्वास्थ्य में सुधार होने पर उसे जेल से छोड दिया जाता है । वह अपने घर चली जाती है । बाद में वह बहुत अस्वस्थ हो जाती है । जाँच करने पर पता चलता है उसे कान्सर है । सिविल सर्जन ने राय दी कि अब अस्पताल में रखने से कोई लाभ नहीं है जितना जल्दी घर भेज दिया जाए उत्तम है । वह भी अपने ही घर में मरने की इच्छा प्रकट करती हुई कहती है -"मैं उसी घर में मरना चाहती हूँ जहाँ रतन के बाज्यू मुझे सुहागन बनाकर लाए थे ।

---

1. गोपाल उपाध्याय - एक टुकडा इतिहास - पृ. 247

उस घर में डोली तो नहीं आ सकी पर अब उस घर से ही अर्थी में निकालूँ, यह इच्छा ज़रूर है ।"[1]

चन्दी देवी की यह इच्छा पूरी होती है । रतन पहुँचता है उससे पहले वह इस संसार से जा चुकी होती । रतन उसके अधूरे काम को पूरा करने के प्रति आश्वस्त है । वह कहता है -"इजा । डूम तो आज भी डूम ही रह गए हैं । आज भी वे अछूत है । फिर तू ने खामख्वाह अपनी जान क्यों दे दी । इजा तू नहीं बदल पाई इन लोगों को । मगर ये बदलेंगे ईजा, समय इन्हें बदलने को मज़बूर कर देगा । सिर्फ तू नहीं देख पाएगी इजा । तू.....।"[2]

चनुली की लाश को जलाने भी कोई नहीं आता । न डूम न बीठ । अभागी चनुली की लाश को कन्धा देने कोई नहीं आता । यह है इस खोखले समाज का असली चेहरा । जलाने को लकडियाँ तक नसीब में नहीं लिखी थी । उसे ज़मीन में गाड दिया जाता है । चन्दी देवी का संघर्ष उसकी मृत्यु के साथ समाप्त नहीं हो जाता । उसका बेटा रतन इस लडाई को चालू रखने के लिए सन्नद्ध होता है । उपन्यास में लेखक अपने देश में व्याप्त घृणित एवं अमानवीय जाति व्यवस्था की दुरभिसंधियों और अन्ध परंपराओं के विरुद्ध संघर्ष का बिगुल बजाने में सफल हुए है । चन्दी देवी के दुखद अन्त और रतन के संकल्प पर उपन्यास को समाप्त करके लेखक ने

---

1. गोपाल उपाध्याय - एक टुकडा इतिहास - पृ. 275
2. वही - पृ. 278

उसकी मार्मिकता को स्थायित्व दिया है । इस में दलित वर्ग के प्रति रूढिवादी समाज की अमानवीयता और दलित वर्ग का उसके प्रति विद्रोह और संघर्ष का जो अनवरत क्रम अंकित किया है वह बहु आयामी है । सवर्ण युवक द्वारा दलित युवती को अपना लेने पर जिस सामाजिक बहिष्कार को झलेना पडता है उसका यथार्थ चित्र इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है । चनुली को गाँव के नौले से पानी नहीं भरने देना, उस पर और कान्तमणि पर दिन-रात व्यंग्य बाणों की बौछार करना, कान्तमणि के अन्तिम संस्कार पर किसी का सम्मिलित नहीं होना आदि जाति सत्ता के सामर्थ्य के रूप में चित्रित हुए हैं । चनुली देवी द्वारा दलितों के अधिकारों के लिए संघर्ष का चित्रण इस उपन्यास को एक वैशिष्ट्य प्रदान करता है । स्त्री होकर भी जो कार्य दलितोद्धार, दलित जागरण, समाज सुधार के लिए वह करती है वह अपूर्व है ।

चमार जाति और धार्मिक दुरवस्था के विभिन्न पहलू मोतिया

रामकुमार "भ्रमर" ने अपने उपन्यास "मोतिया" के माध्यम से समाज की उस दुरवस्था का चित्र खींचा है जिसके कारण दलित या असहाय युवक को मज़बूरन अपराधी वृत्ति अपनानी पडती है । समाज में पनपी जाति-पांति, ऊँच-नीच की व्यवस्थाओं के जंजीरों में जकडकर तडपनेवाले निम्न वर्ग के प्रतीक के रूप में ही मोतिया को इस उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है । मोतिया एक चमार है जो ब्राह्मण पंडित राम आसरे की पुत्री बिन्दो से प्यार करता है । बिन्दी भी उसे बेहद चाहती है । किन्तु बिन्दी के घरवालों तथा समाज को यह अच्छा नहीं लगता । बिन्दी मोतिया के साथ भागने के प्रयास में गाँववालों द्वारा रास्ते में ही पकड ली जाती है । विवाह की अनुमति न बिन्दी के जातिवाले देते हैं न ही मोतिया के जाति के ।

बिन्दी के जातिवाले उच्च वर्ग के होने के नाते मोतिया चमार को बेटी देने से कतराते हैं । और मोतिया के जातिवाले परंपरा से उच्च वर्ग की जी हुज़ूरी में ही अपना जीवन धन्य मानते हैं । वे इतना साहस नहीं जुटा पाते कि बिन्दी को बया कर के घर ले आवें । मोतिया के जातिवाले उसकी इस करतूत पर कन्नी काट गए । इस तरह मोतिया बिलकुल अकेला हो जाता है ।

मोतिया के मन में इस घिनौनी समाज व्यवस्था के प्रति विद्रोह की आग उठने लगती है । वह डाकू बनकर समाज से बदला लेना चाहता है । यह एक समकालीन यथार्थ ही है । सामाजिक व्यवस्था ही उसे अपराधी जीवन जीने को विवश कर देती है । बिन्दी के साथ मोतिया को प्यार करते देख रजुआ कुम्हार कहता है - " सच्चा गाँधीजी वाला कार्य तो वही कर रहा है । बड़ी नाक लगाते हैं बाम्टन -छतरी । मोतिया उनका दामाद बनकर वह छोड़ देगा कि धरती में लौटते नज़र आएंगे । स्साले आदमी को आदमी नहीं समझते ।"[1]

साथ ही सदियों से दबी कुचली मानसिकता रजुआ के दिमाग पर हावी हो जाती है । वह कहता है -"यह अधरम भी होगा । मोतिया है छोटी जात की आदमी । अपने-अपने पुन्न-पाप से आदमी छोटा बड़ा होता है, पर ब्राह्मण की बिटिया को फुसलाकर स्साला ऐसा पाप मोल ले रहा है, जिसके एवज में कई जनम इन्सान की जौन ही नहीं मिल सकेगी । नरक में सड़ना होगा ।"[2] रजुआ मोतिया को समझाता हुआ

---

1. रामकुमार भ्रमर - मोतिया - पृ. 40
2. वही - पृ. 46

कहता है रोस को बात कर, वे बड़े लोग हैं, अपुन छोटे ।..... अपना उनका कोई मुकाबला नहीं है । औकात में रह भइया, अभी बात दबी मुन्दी है, अगर किसी को मालूम हो गया तो सही कहता हूँ ऐसे बेभाव पड़ेंगे कि तेरा जीना मरना दूभर हो जाएगा । तुझसे उमर में बड़ा हूँ इसलिए तेरे भले की बात करता है । राम आसरे महाराज समरथ है । समरथ को नहीं दासे गौसाई होता है तो बिनको कोई दोस नहीं । तेरे लत्ते ले डालेंगे । गाँव छोड़कर भागना पड़ेगा तुझे । लड़को, लड़की ही ठहरी । घर पर रहेगी ।"[1]

एक बार मोतिया डाकू जगमोहन सिंह माल आपूर्ति करने के अपराध में पकड़ा जाता है । थाने में उसकी खूब पिटाई की जाती है । अन्त में थानेदार मोतिया की इस बात पर रिहाई कर देता है कि वह पुलीस की मुखबीरी करता रहेगा और जगमोहन सिंह को भी उसी प्रकार सामान पहुँचता रहेगा । बिन्दी के पिता राम आसरे चुनाव के समय एक भाषण में समाजवाद लाने और जिले से, देश से छुआ छूत, जाति-पाँति मिटाने की शपथ लेते हैं । वे कहते हैं -"मुझे तब तक चैन नहीं मिलेगा जब तक मैं ब्राह्मण भंगी, चमार, ठाकुर का नाम ही न मिटा दूँ ।..... सब बराबर हो जाए । मैं आपकी बेटी लूँ और आप मेरी.....।"[2]

राम आसरे के इस भाषण के पश्चात् मोतिया हिम्मत करके उनके घर जाता है और बिन्दी का हाथ माँगता है । कथनी और

---

1. रामकुमार भ्रमर - मोतिया - पृ. 51
2. वही - पृ. 104

करनी के अन्तर को अमली जामा पहनाते हुए वह मोतिया को मार-पीट कर बाहर निकाल देता है । मोतिया सोचता रह जाता है -"ढोंगी स्साला । ठीक कहतो थी बिन्दिया । जो बाहर बोलता है वह पंडित राम आसरे नहीं है । भिखारी है..... जिसे किसी तरह झूठ बोलकर लोगों के वोट चाहिए । ठग ।"[1] परिणाम स्वरूप मोतिया डाकू बन जाता है । जाति व्यवस्था के शिकार के रूप में मोतिया को उपन्यास में प्रस्तुत किया है जो जाति व्यवस्था की अमानवीयता की ओर संकेत करता है ।

जातीयता की अमानवीयता का चित्र जल टूटता हुआ

इस समकालीन यथार्थ पर प्रकाश डालने का प्रयास राम दरश मिश्र के उपन्यास "जल टूटता हुआ" में भी उपलब्ध है । जो दलित जीवन पर आधारित है । यहाँ शोषित वर्ग अपने को सवर्ण कहनेवाले ब्राह्मणों व ठाकुरों की हलवाही करता है । इनका जीवन बन्धुआ श्रम-जीवियों जैसा है । उच्च वर्ग के लोग उन्हें सदा के लिए हलवाहे बनाए रखने के लिए हर प्रकार का छल-छद्म करते हैं तथा अन्याय व आतंक का भी सहारा लेते हैं । स्वतंत्र भारत में प्रजातंत्र के नाम पर उनका राजनीतिक शोषण होता है ।

समाज में जातिवाद की जड़ें कितनी गहरी है और श्रम को कितनी घृणा की दृष्टि से देखा जाता है इसका मार्मिक चित्रण उपन्यास

---

1. रामकुमार भ्रमर - मोतिया - पृ. 111

में हुआ है । मानवतावादी सतीश के शब्दों में - "यहीं प्रायमरी स्कूल में हरिजन मास्टर आया है, वह डण्डों से बामनों, ठाकुरों के बच्चे को मारता नहीं है ।..... लेकिन लोग चाहते है कि चमार, चमार ही रहे, नाई नाई ही रहे थे भले ही बामन ठाकुर न रह गए हो । ये लोग हरिजनों की पढाई का मज़ाक उडाते है, मानों इनकी हलवाही करने के लिए वे हमेशा चमार बने रहे ।..... मैं ने तो कई बार आवाज़ उठाई कि हल उठाओ और अपना काम खुद करों । लेकिन अभी इनका ब्राह्मणत्व इनके चन्दन की तरह इनसे लिपटा है । सारे दुष्कर्म करते है ये लोग, लेकिन हल जोतने में इनका सारा धर्म नरक में पडता है । जब गाँव में एक भी हरिजन नहीं रहेगा तब झख मारकर ये लोग अपना-अपना हल उठाएँगे, लेकिन पता नहीं वह दिन कब आएगा ? अभी तो कोई आवाज़ नहीं सुनाई पड रही है ।"[1]

यह उपन्यास समाज के पतन की जीती जागती कहानी है । बदमी नामक नीच जाति की युवती बाढ में बह जाती है । लेकिन नीच जाति के होने के कारण कोई उसे बचाने की ओर ध्यान नहीं देता । जैसे कहाइन जानवरों से भी गया बीता कोई जीव हो । जाति व्यवस्था की अमानवीयता का उत्तम दृष्टान्त है बदमी की यह घटना । बदमी की ज़िन्दगी का चित्रण लेखक ने विस्तार से किया है । बाल विवाह के अनन्तर कच्ची उम्र में शराबी एवं विलासी पति द्वारा समय-असमय किये जानेवाले अत्याचार, पति का जेल जाना, तत्पश्चात् कई पुरूषों द्वारा इसके सतीत्व का शोषण करना, यहाँ तक कि स्वयं उसके पति द्वारा उसे वेश्यावृत्ति के लिए विवश

---

1. रामदरश मिश्र - जल टूटता हुआ - पृ. 225

करना जैसी बातें जहाँ एक ओर पाठक के मन में गहरी करुणा उपजानी हैं तो वहीं असवर्णों के प्रति और स्त्री समाज के प्रति उसके मन में दया भी । संपूर्ण उपन्यास में सतोश और कुंजु केवल दो पात्र ऐसे हैं जो असवर्णों को अपनी तरह मनुष्य मानते हैं । वे उन्हें अपनी तरह मानते हैं और उनके उत्थान के लिए प्रयत्न करते हैं । शेष सब उन्हें पद दलित करने में ही रुचि रखते हैं । कभी उन्हें सम्मान देते है तो स्वार्थ के खातिर । यह समाज की दुरवस्था है । उस में पडकर आम आदमी याने निम्न वर्ग के लोग अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं ।

नट-करनट के जीवन की शिथिलता और धर्म कब तक पुकारूँ

सामाजिक दुरवस्था से मुक्ति की कामना ही रांगेय राघव के उपन्यास "कब तक पुकारूँ" का प्रतिपाद्य विषय है । यह उपन्यास दलितों के पीडाग्रस्त जीवन का मार्मिक चित्रण करके सामाजिक बदलाव का एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है -"मैं पुकार-पुकार कर कहना चाहता हूँ कि सुनो । सुनो । दिगंतों में अधिकार की यह तृष्णा चिल्ला रही है । पर मैं भी चुप नहीं हूँ । ये कमीने, नीच ही आज इन्सान है, इनके अतिरिक्त आज सब में पाप घुस गया है क्योंकि उन सबके स्वार्थ और अहंकारों ने उनकी आत्मा को दास बना लिया है । ये कमीने और गरीब अशिक्षा और अज्ञान से छटपटा रहे है । जब तक ये शिक्षित नहीं होते तब तक इनके अज्ञान, फूट और घृणा पर संसार जघन्यता का केन्द्र बना रहेगा, तब तक इनके पुत्र धरती की मिट्टी में पैदा होते रहेंगे और कुत्ते की मौत मरते रहेंगे ।"[1] यों नट या करनट जैसे, उपेक्षित वर्ग पर लिखा गया रांगेय राघव

---

1. रांगेय राघव - कब तक पुकारूँ - पृ. 634

का प्रस्तुत उपन्यास पूर्ण रूप से जरायम पेशा जाति की पीडाओं पर आधारित है ।

लेखक निम्न वर्ग के उस भ्रम की ओर संकेत करना चाहता है जिसके रहते शोषित निम्न वर्ग सामंती व्यवस्था के द्वारा शोषित हुए जाने के सत्य पर विश्वास ही नहीं करता । सामन्ती व्यवस्था के दबावों में पली निम्न वर्ग की मानसिकता इस छलावे को संजोये रही है कि अब भी निम्न जातियाँ अपनी परंपराओं को नहीं छोडना चाहती । प्रस्तुत उपन्यास में चित्रित नट जाति इस स्थिति का प्रतिनिधि है । नट इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि नटनी पर कोई भी अधिकार दिखा सकता है । इसलिए उनकी संतान उनकी अपनी नहीं होती । सुखराम की माँ के कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है -"नहीं सुखा । मेरे राजा । आज असली बात बताती है । तू इसका बेटा नहीं है । तू नट है क्योंकि मैं नहीं बता सकती कि तू किसका बेटा है, जैसे कोई नटनी नहीं, बता सकती ।"[1] बडी जातियों के जुल्मों के खिलाफ विद्रोह करने की इन लोगों में न तो हिम्मत होती है न इच्छा ।

लेखक ने दिमागी गुलामी की इस जडता को तोडने की कोशिश की है । इसलिए सोनों को यह आशा है कि उसकी बेटी प्यारी आम नटनी की तरह नहीं रहेगी । उसकी आकांक्षा है कि प्यारी बडी

---

1. रांगेय राघव - कब तक पुकारूँ - पृ. 23

जाति की औरतों को तरह इज्जत से रहे । उसे विश्वास है कि प्यारी का पति सुखराम प्यारी को दुनिया के जुल्म से बचायेगा । लेखक ने सुखराम के माध्यम से नट जाति की दमित आकांक्षाओं को एक स्वप्न के सहारे प्रस्तुत किया है । सुखराम का सपना वास्तव में किसी भी शोषित जाति के अपनी घृणित स्थिति से ऊबकर ऊँची जाति के आदर्शों तक पहुँचने का खयाली प्रयास हैं । सुखराम सपना देखता है कि जब वह किले का मालिक बन जाएगा तब नटों के लिए महल बसायेगा, नटनियाँ घूँघट करने लगेगी, लोग नटों को ज़हार करेंगे । कभी-कभी नटों की घिनौनी स्थिति को देखकर सुखराम मन-ही-मन उन लोगों से अलग स्थिति में रहने की कामना करता है । वह खुद एक ओर नटों की स्थिति से मुक्त होना चाहता है ; तो दूसरी ओर नट जाति को ठाकुरों का रुतबा देना चाहता है ।

सुखराम को किसी ठाकुर की खोई हुई संतान दिखाकर लेखक ने सुखराम के व्यक्तित्व में एक अजीब-सा दोगलापन दिखाया है । नट जाति की दरिद्रता में ज़िन्दगी गुज़ारते हुए भी अपने मूल कुल का अभिमान उसमें कचोट पैदा करता है । सुखराम की दोनों पत्नियाँ कजरी और प्यारी अपनी पीडाओं को सहती हुई भी स्थितियों पर तरस खाती है । कहीं न कहीं उनमें स्थितियों की प्रतिकूलता के बावजूद मुक्ति की कामना भी है । प्यारी कहती है-"..... देख मैं भागिन चमारिन नहीं जो मरद की गुलाम बनकर रहूँ । मैं तो खेलूँगी । पर मेरा मन तो तेरा है । जिस दिन मन तुझ से रह जाएगा, मैं तुझे छोडकर चली जाऊँगी ।"[1] अपनी पीडाओं को

---

1. रांगेय राघव - कब तक पुकारूँ - पृ.51

समूची नारी वर्ग की पीडा मानकर प्यारी सोचती है कि नारी कितनी विवश है, आप कसाई के हाथ भी दे दें, तब भी वह प्रतिकार नहीं कर सकती । इसके अलावा गाँव के ठाकुरों और पुलीस लोगों के अत्याचार का शिकार बनना पडता है सो अलग -"जब चाहे जिस नटनी, कंजरिया को पकड ले जाता है..... वह हमें थाने में पकड ले जाता था । वहाँ हमें वह चोट कर देता था । फिर हम लोग बेतों से पिटते थे । कभी-कभी गुड के पानी के छींटें दे दिये जाते थे जिससे चींटे लग जाते थे और देह सूज जाती थी ।"[1] लेखक ने कजरी और प्यारी में अत्याचार के खिलाफ विरोध की चेतना जगाई है । प्यारी के माध्यम से नारी नैतिकता का प्रश्न उठाया गया है । सुखराम को आपदाओं से बचाने के लिए वह रूस्तम खाँ की रखैल बनती है । तन से पराई होकर मन से वह सुखराम की रहती है और अंत में घृणा से सुलगते हुए रूस्तम खाँ की हत्या कर देती है ।

उपन्यास में निम्न वर्ग की उन आदर्श स्थितियों का स्वप्न दिखाया गया है, जहाँ पहुँचकर निम्न जाति उच्चवर्ग की सभी सुविधाओं को - सांस्कृतिक और सामाजिक - पा लेती है । करनट या नट जैसी जाति जो भारतीय जाति व्यवस्था में निम्न से भी निम्नतर मानी जाती है । नटनियों को मात्र मनोरंजन का ही नहीं, रास्ते चलने वाले हर किसी उच्चवर्गीय युवक की कामेच्छा का बलि बनना पडता है । इसका विरोध कोई नट भी नहीं कर सकता । मध्यकालीन और सामन्त युगीन जातिवादी मूल्यों की पकड से निम्न समाज का मुक्त होना जादुई परिवर्तन की तरह सरल नहीं है । लेकिन लेखक ने इस स्वप्न का

---

1. रांगेय राघव - कब तक पुकारूँ - पृ. 64

एक मनोविज्ञान ज़रूर उपस्थित किया है । सुखराम ने इस भ्रम को पाले रखा है कि वह ठाकुर की औलाद है और उसे ही किले पर अधिकार है । वह चाहता है कि जिस जाति में वह पला उन नट-नटनियों को वह ठाकुर-ठाकुराईन की तरह प्रतिष्ठित कर पाएगा । एक तरफ यह स्वप्न है तो दूसरी तरफ अपनी ही जाति और उनके कुकर्म के प्रति घृणा का भाव । खुद में एक तरह का अपराध बोध । इस तरह एक विलक्षण अन्तर्द्वन्द्व सुखराम के मस्तिष्क में घटित होता है । यों जरायमपेशा खानाबदोश नट-नटनियों की आन्तरिक पीडा और सामाजिक व्यथा को हूबहू खडा करके "कब तक पुकारूँ" सामाजिक बदलाव की अनिवार्यता की ओर इशारा करता है ।

पिछडेपन से पीडित निम्न जाति और धर्म परिवर्तन की विवशता - ज़ुनिया

श्री गोविन्द वल्लभ पन्त का उपन्यास "ज़ुनिया" हिन्दु धर्म की जातिव्यवस्था के कारण उत्पन्न धर्म परिवर्तन की ओर संकेत करता है । इस उपन्यास का प्रमुख पात्र ज़ुनिया हिन्दु धर्म की जाति व्यवस्था का शिकार है । इसलिए धर्मान्तरण करके ईसाई बन जाता है । उसे हिन्दु धर्म से इतनी घृणा हो जाती है कि वह मरते समय अपने बच्चों व पत्नी से अन्तिम इच्छा यों प्रकट करता है -"वहाँ मेरी कब्र बना देना । उस कब्र के निकट एक देवदारू का वृक्ष लगा देना और एक पत्थर पर "ज़ुनिया" एक गरीब ईसाई खुदवा कर वहाँ लगवा देना ।"[1]

---

1. गोविन्द वल्लभ पन्त - ज़ुनिया - पृ.86

जूनिया जाति से डूम है । जमीन्दार गोसाई के यहाँ वह नौकरी करता है । छुआछूत के तिरस्कार और अपमान के कारण उसे गाँव छोड़कर जाना पड़ता है । शहर में जाकर वह ईसाई बन जाता है । बपतिस्मा लेने के बाद जूनिया अंग्रेज़ी सीखता है और दिनों-दिन उन्नति करता जाता है । पहले उसे स्कूल में चौकीदारी की नौकरी मिलती है, बाद में हिन्दी टीचर बना दिया जाता है । वह अपनी पढाई जारी रखता है और पीटर लाल की मृत्यु होने पर उसे प्रचारक और उसकी पत्नी सानी को प्राचारिका नियुक्त कर दिया जाता है ।

बचपन में अनजाने में गोसाई की बावली से पानी पी लेने के कारण जूनिया को मार खाना पड़ा था और जवानी में नरभक्षी बाघ से प्राण बचाने के लिए मन्दिर में आश्रय लेने के कारण भी । इसी लिए विवश होकर वह अपना गाँव छोड़ता है । शहर में वह ईसाई बनने के पश्चात् प्रचारक बन कर ईसाई धर्म का प्रचार करता है ।

उपन्यास में कई स्थानों पर छुआ छुत को अमानवीय सिद्ध करने का प्रयास दृष्टव्य है -"माँ बावली में पानी बहता हुआ था । बहता पानी सदा शुद्ध होता है, उसे कोन झूठा कर सकता है ?"[1]

"ऐसा न कहो, ऐसा न करो, यह सब जान बूझकर नहीं किया गया । प्राणों पर आ बनी थी, प्राण किसे प्रिय नहीं होते ? वेदना छोटे-बड़े सबही के है ।"[2]

---

1. गोविन्द वल्लभ पंत - जूनिया - पृ. 15

2. वही - पृ. 23

जातीय तिरस्कार की वेदना जूनिया के शब्दों में स्पष्ट है -"सानी, देव मन्दिर की इमारत मेरे पुरखनों ने एक एक पत्थर ढोकर चिनी है । उनके अन्दर की मूर्तियाँ भी उन्होंने ही गढी है । वे देवता की पूजा कर बरदान लेनेवाले हो गए और हम उनके चरणों की धूल । जब काल हमें निगलने के लिए जबडे फैलाता है, हम उसके अन्दर जाकर अपनी प्राण रक्षा भी नहीं कर सकते ?"[1] इस वेदना के कारण जाति-व्यवस्था को अमानवीयता के विरुद्ध आवाज़ उठाता है -"जूनिया डुम है । क्या वे परमेश्वर के प्राणी नहीं है ? क्या उनकी छाया से भूमि में पाप और उसकी साँस से वायु मंडल में विष फैलता है ? क्या वे मार्ग में चलने के लिए नहीं रौंदे जाने के लिए पैदा किए गए है ।"[2] लेखक ने उपन्यास में जाति व्यवस्था की अमानवीयता के विरुद्ध अपनी सख्त आवाज़ उठाई है । हिन्दु धर्म लोगों का शोषण करता है और अमानवीयता से उसका अपमान करता है । पर ईसाई धर्म स्वीकार करने से कैसे लोगों का उद्धार होता है, समाज में उसका सम्मान होता है यह भी उपन्यासकार ने दिखाया है । यहाँ उपन्यासकार धर्म परिवर्तन का समर्थन नहीं कर रहा है पर हिन्दु धर्म किस भीषणता के साथ लोगों से व्यवहार कर रहा है उसके दिखाने का प्रयत्न मात्र है ।

छुआ छुत बनाम छुआ छुत को त्रासदी - मकान दर मकान

बाला दुबे ने अपना उपन्यास "मकान दर मकान" में समय के साथ सवर्णों और अवर्णों में आ रही चेतना के साथ जातिगत-हीनता

---

1. गोविन्द वल्लभ पन्त - जूनिया - पृ. 25
2. वही - पृ. 104

बोध और उच्चता बोध का चित्रण किया है । समाज के दलित या असवर्ण कहे जानेवाले लोगों में भी छुआ-छुत है । जिसके कारण सभेरा भंगी की लडकी किस्नो और ग्यासिया चमार के लडके द्वारका परस्पर विवाह करना चाहते हैं तो दोनों जातियों में लाठी युद्ध होता है । चमार कहते हैं -"भला हमारा लडका भंगिन के साथ ब्याह करेगी ?" भंगी कहते है - हमारी लडकी चमारों में नहीं जा सकती । अपनी जाति के लडके के साथ ही उसके हाथ पीले कराएँगे ।"[1] दोनों ईसाई बनकर इस समस्या का समाधान करते हैं । बाला दुबे ने अपने उपन्यास में सवर्ण, असवर्ण प्रश्न को तार्किक एवं प्रखर दृष्टि से विश्लेषित किया है और इस सत्य को उजागर किया है कि यह भेद स्वार्थ के आधार पर खडा किया है ।

शिक्षा के क्षेत्र में धर्म का हस्ताक्षेप - नयी बिसात

श्री चन्द अग्निहोत्री ने ग्राम विकास तथा दलितोद्धार को विषय बनाकर अपना उपन्यास "नयी बिसात" लिखा है । उपन्यास में एक गाँधीवादी प्रदीप कुमार पाठक, जो लोगों में मुंशी भैया नाम से प्रसिद्ध है, के द्वारा हरिजनों व ग्राम के सर्वहारा लोगों को संगठित करके अपने अधिकारों के लिए सत्याग्रह करने का वर्णन उपन्यास में है ।

आज भी गाँव में जिन स्कूलों में अध्यापिकाएँ हरिजन है उन स्कूलों में पढनेवाले बच्चों के मन में उनके माँ-बाप उन अध्यापिकाओं को

---

1. बाला दुबे - मकान दर मकान - पृ. 122-123

नीची जाति का बताकर छुआ छुत की गन्दगी भरते रहते हैं । लेखक इस सामाजिक सच्चाई को उपन्यास में व्यक्त करता है । इसमें मातादीन अपनी बिटिया को टीचर बनाना चाहता है । तब पंचों का कथन है -"मातादीन यह बताओ, बांभन, ठाकुर पढायेंगे अपने बच्चे चमारिन से ।"[1] नीच जातियों में परस्पर ऊँच-नीच की जो भावना है उसकी ओर भी लेखक ने संकेत किया है । पारस्परिक ऊँच-नीच को समाप्त करने के लिए लेखक ने मंगली चमार की शादी धोबिन से कर पायी है । यों उपन्यास सामाजिक समता का पक्षपाती है ।

निष्कर्ष

दलित जीवन पर लिखे गये साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में जाति व्यवस्था के कारण उत्पन्न सामाजिक समस्याओं का विश्लेषण करने के साथ साथ इस गुलामी की जंजीरों से मुक्ति पाने के लिए तडपने वाले शोषित निम्नवर्ग की मानसिकता का चित्रण भी अवश्य हुआ है । इनकी मुक्ति की कामना और उसके लिए किये जानेवाले सशक्त प्रयास ही इन उपन्यासों का प्रमुख विषय रहा है । जाति व्यवस्था की दुरवस्था में निम्न वर्ग अपने अधिकारों से पूर्ण रूप से वंचित है, वह हमेशा सवर्णो द्वारा तिरस्कृत जीवन ही बिता रहा है । इसके कारणों पर विचार करते हुए उपन्यासकारों ने इस सत्य का उद्‌घाटन किया है कि सामन्ती व्यवस्था के दबावों में पले निम्न वर्ग की मानसिकता इस छलावे को संजोये रही है कि अब भी निम्न जातियाँ अपनी परंपराओं को छोडना नहीं चाहती । साठोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों ने इस दिमागी गुलामी को तोडने की कोशिश की है ।

---

1. श्रीचन्द अग्निहोत्री - नयी बिसात - पृ.41

इन उपन्यासकारों ने इस सत्य का पर्दाफाश किया है कि निम्नवर्ग के संदर्भ में सभी धर्मों का दृष्टिकोण लगभग एक जैसा ही है । कोई भी धर्म उनकी रक्षा के लिए मौजूद नहीं है । इस वेदना से उत्पन्न विद्रोह दलित जीवन पर लिखे गये साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में अवश्य मिलता है । ये उपन्यास इसका साक्षी हैं कि ये दलित ही इन्सान हैं, बाकी सब में पाप घुस गया है । स्वार्थ और अहंकारों ने उच्चवर्ग की आत्मा को दास बना लिया है । उपन्यासकारों का यही विश्वास है कि जिस दिन जान जाएंगे कि मनुष्यत्व क्या है, उस दिन नया मनुष्य आ खडा होगा । शोषण की घुटन सदा नहीं रहेगी । वह मिट जाएगी, सदा के लिए मिट जाएगी । सत्य सूर्य है वह मेघों से सदा के लिए घिरा नहीं रहेगा । मानवता पर से यह बरसात एक दिन अवश्य दूर होगी और तब नई शरत् में नये फूल खिलेंगे, नया आनन्द व्याप्त हो जाएगा ।

अध्याय पाँच

दलित जीवन और राजनीति

राजनीति और भारतीय समाज

वर्तमान समाज में राजनीति का स्थान निर्विवाद का है । स्वतंत्रता के बाद हमारे समाज में राजनीति का सर्वग्राही रूप प्रकट हुआ है । आज व्यक्ति और समाज के सभी कार्य राजनीति से संचालित और परिचालित हो रहे हैं । नेमीचन्द्र जैन के शब्दों में - "हर व्यक्ति को, हर समुदाय को, अपनी नियति पहचाननी ही होती है राजनीतिक संबंधों की, राजनीतिक परिस्थितियों और कार्यों की, समझ इसी नियति को पहचान का ही एक अंग है ।"[1] लेकिन विगत दशकों की अवमूल्यित राजनीति ने तो हमारी जीवन पद्धति और सोच को भी बदल दिया है । जो शक्तिमान है, समर्थ है, हर प्रकार के स्वार्थों को पूर्ती करने में सिद्ध है वही ज़िन्दगी के मजे लूट रहे हैं । शेष का जीवन तो कीडे-मकोडे से भी बदतर हो गया है । "सत्ता लोलुपता और स्वार्थपरता व्यक्ति की चेतना पर बुरी तरह हावी हो गयी है । लोक तांत्रिक व्यवस्था में, इसी व्यक्तिवादी प्रवृत्ति ने राजनीतिक भ्रष्टाचार को जन्म दिया है ।"[2] इस राजनीतिक भ्रष्टाचार का सबसे बडा शिकार है दलित जन साधारण । हम देखते हैं कि देश के मुट्ठी भर लोग, भले ही वे सत्ता पक्ष में हो या उसके विरोधी पक्ष में, अधिसंख्य भारतीय जनता की अपार संपत्ती का सुख-भोग निर्विघ्न भाव से कर रहे हैं । उनमें आपस में कोई विषमता या पिछडापन नहीं । दरिद्रता विषमता और पिछडापन तो देश की बहुसंख्यक दलित जनसाधारण के हिस्से की चीज़ बनकर रह गयी है, और यह साथ छोडने का कोई लक्षण इस व्यवस्था के रहते नहीं दीखता ।

---

1. नेमीचन्द्र जैन - अधूरे साक्षात्कार - पृ. 165
2. डॉ. गोपाल कृष्ण शर्मा - भाषा - जनवरी - 1992.

राजनीतिक हरकतों से आहत दलित का इतिहास महाभोज

मन्नु भंडारी हिन्दी का ऐसा उपन्यासकार है जिन्होंने अपने उपन्यास "महाभोज" में बड़ी गंभीरता के साथ इस तथ्य को रेखांकित किया है । विलाप करते देश में जब-तब चुनाव का घंटा बज जाता है, हिंसा और आँसुओं के अन्धेरे में सत्तासीन और विरोधी दलों के हमारे नेता वोट माँगने पहुँच जाते हैं । अपने अधिकारों से वंचित होकर आदमी के नाम पर जोनेवाले प्राणियों के सामने अपने को प्रस्तुत करता है और उनके आँसुओं को पोंछने का वादा करता है । क्या वे वोटें दुरितपूर्ण जीवन बितानेवाले शोषित निम्नवर्ग के आँसुओं को पोंछने के लिए और उनके जख्मों को सुखानेवाली होती हैं ? "महाभोज" उपन्यास इस दिशा में सोचने और समझने की गंभीर ज़रूरत को रेखांकित करता है ।

"महाभोज" सामाजिक उत्पीडन और उस पर टिकी हुई व्यवस्था पोषक राजनीति के विरुद्ध एक संवेदनशील रचनाकार की साहसपूर्ण प्रतिक्रिया है । यह उपन्यास मूलतः राजनैतिक पाखंड की निर्ममता के परत दर परत खोलकर आज के तथाकथित राजनेताओं की घृणित तस्वीर प्रस्तुत करने में पर्याप्त है । ये लोग दलित जनसाधारण की हत्या से भी लाभ उठाना चाहते हैं । उपन्यास के केन्द्र में "सरोहा" नामक एक हरिजन गाँव है । वहाँ भूपति जोरावर सिंह द्वारा आग लगा दिया जाता है -"महीने-भर पहले की हो तो बात है- गाँव की सरहद से ज़रा परे हटकर जो हरिजन टोला है, वहाँ कुछ

झोंपडियों में आग लगा दी गयी थी, आदमियाँ सहित ।"[1] इस घटना से जुडो है विश्वेश्वर यानि विशु की मौत -"क्या दोष था इन हरिजनों का ? यही न कि सरकारी रेट पर मज़दूरी माँग रहे थे ? पर शायद था - तभी तो जिन्दा जला दिये गये और जिन्होंने जलाया उन पर ऊँगली उठानेवाले तक नहीं । बेचारे बिसु ने ऊँगली उठाने की कोशिश की तो हमेशा के लिए चुप कर दिया गया उसे । उसकी लाश पुलिया पर पडो मिली ।"[2]

दा साहब और शुक्लजी जैसे राजनीतिक नेता इस मौत से लाभ उठाना चाहते हैं । जिस तरह किसी पशु की मृत्यु पर गिद्ध मांस के लिए उसके शव पर टूट पडते हैं वैसे ही ये राजनेता विशु की मौत पर । किसप्रकार राजनीति के लोग शोषित निम्नवर्ग को अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए हथियार के रूप में उपयोग करते हैं, इस सत्य को दिखाने के लिए मन्नु भण्डारी ने राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में ही इस उपन्यास को प्रस्तुत किया है ।

सरोहा गाँव में हरिजन टोला के कुछ झोंपडियों में आग लगाकर आदमियों को और जानवरों को एक साथ भून दिया गया ।

---

1. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 7
2. वही - पृ. 10

लोगों पर इस बर्बरता का कोई असर नहीं पडता - समाचार पत्रों में ऐसी खबर सुर्खियों में छपती तो है किन्तु इन खबरों का जीवन कितना लंबा होता है । इस संदर्भ में लेखिका का कथन सटीक है -"ओह होरिबिल, सिम्पली इन ह्यूमन । कब तक यह सब और चलता रहेगा ? त-त-त और पन्ना पलट गया । थोडी देर बाद गाँव वालों की ज़िन्दगी की तरह अखबार भी रद्दी के ढेर में जा पडा ।"[1]

सरोहा का बच्चा-बच्चा जानता है कि हरिजन टोला में आग जोरावरसिंह द्वारा लगायी गयी है । विश्वेश्वर की मृत्यु में भी उसी के हाथ हैं । फिर भी जोरावर सिंह के आतंक के सामने कोई मुँह नहीं खोल सकता । क्योंकि जोरावर सिंह की पहुँच राज्य के मुख्यमंत्री दा-साहब तक है । वहाँ उन्हें अपनी कुर्सी बचाने के लिए वोटों की गठजोड की चिंता होती है । कोई मानवीय पहलू उनके सामने नहीं रहता । तभी तो विश्वेश्वर पर जान देनेवाला बिन्दा दा-साहब की कृपा से विश्वेश्वर को हत्यारा ठहरा दिया जाता है । कर्तव्यनिष्ठ पुलिस अधिकारी सक्सेना अपनी मानवता और कर्तव्यनिष्ठा के साथ कार्यवाही करते हैं और अपनी सेवा के पुरस्कार स्वरूप उन्हें मिलता है सेवा से निलंबन ।

शोषित जनता पर हुए इस घोर अत्याचार पर राजनीतिक नेताओं की प्रतिक्रिया पर लेखिका इसमें व्यंग्य करती है -

---

1. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 8।

"इस दर्दनाक हादसे से विरोधी दल के नेताओं के हृदय तो चकनाचूर हो गये । विधान सभा में उनके फटे गले से निकली चीख-पुकार वास्तव में उनके फटे हृदय की अनुगूँज ही थी जिसने सारे सदन में धरती फाड हंगामा मचा दिया ।"[1] सत्तासीन पार्टी पर विचार करते हुए लेखिका लिखती है -"मंत्रियों ने आत्मग्लानि में डूबकर रूँधे गले से खेद प्रकट किया और भविष्य के लिए आश्वासन दिये । उधर सत्तारूढ दल के असंतुष्ट विधायक अलग अलग बिलबिलाने लगे ऐसी अमानुषिक घटना पार्टी के माथे इतना बडा कलंक । अब तो मुख्यमंत्री से इस्तीफा की मांग करके ही इस कलंक को धोया जा सकता है । मुख्यमंत्री भी त्याग-पत्र देकर ही इस पाप का प्रयश्चित कर सकते हैं । लेकिन मुख्यमंत्री को लगा कि जब तक वे असली मुजरिम का पता लगवाकर सजा नहीं दिखवा देते, उनकी आत्मा बोझ मुक्त नहीं होगी और पता तो सत्ता पर बैठकर ही लगवाया जा सकता है ।"[2] क्या करते, वे आत्मा के आगे मज़बूर थे और उन्होंने सारा मामला गहरी जाँच-पडताल के लिए बडे अफसरों के हाथ में सौंप दिया । इस का परिणाम यह निकलता है कि बडे अफसरों ने अपना बडपन और मुस्तैदी दिखाने के लिए तुरंत दोनों कांस्टेबलों को सस्पेंड कर दिया जाता है - ऊपर से नीचे तक सब लोग सुरक्षित ।

संपूर्ण उपन्यास आज के नंगे सच को एक बडे खुले आइने जिस पैनेपन से प्रतिबिंबित करता है वह अनुपम है । इन सबसे स्पष्ट है

---

1. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 8
2. वही - पृ. 8

कि आज के इस प्रजातांत्रिक युग में भी गरीब और श्रमजीवी दलित वर्ग के व्यक्ति के प्राणों का महत्व किसी निरीह पशु से अधिक नहीं है । सामन्त युग की तरह आज भी उसे अपने ही झोंपड़े में भूनकर कबाब किया जा सकता है । उनके हमदर्द को अनचाही मौत की सेज पर भी सुला दिया जा सकता है । ये सब घटनाएँ आज के राजनेताओं के लिए ठीक वैसा ही महाभोज है जैसे किसी जानवर की मृत्यु पर गिद्ध बिरादरी के लिए अवसर सहज सुलभ हो जाता है -"सच पूछा जाए तो बड़ा न आदमी होता है न घटना । यह तो बस, मौके-मौके की बात होती है । मौका ही ऐसा आ पड़ा है । इस समय तो सरोहा में एक पत्ते का हिलना भी एक घटना को अहमियत रखता है । डेढ़ महीने बाद ही तो चुनाव है ।"[1] दलित जीवन की समस्याओं को जिसप्रकार राजनीति के नेता गण दुरूपयोग कर रहे है इसका यथार्थ चित्र मन्नु भण्डारी हमारे सामने रखती है । जगदीश नारायण श्रीवास्तव ने ठीक ही कहा है - "राजनीति के रक्त रंजित इतिहास में ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ आम है । यह राष्ट्र स्वयं अपने पिता की हत्या कर चुका है । सरोहा की मासूम रोती हुई औरतें और निढाल बच्चे, बूढ़े और नौजवान नहीं जानते वे क्यों रो रहे है ? क्या चुनाव में ये आँसू पूछेंगे ? कौन-से हाथ पोंछेंगे ? राजनीतिक ? प्रेस ? नौकरशाही ? मुझे फिर से "ओल्ड टेस्टामेंट" की याद आती है -"हम लोगों के पिताओं ने पाप किया था, लेकिन वे दण्ड मिलने के पहले ही चले गये । जो दण्ड उन लोगों को प्राप्त था वह आज हम लोगों पर पड़ा । देश में हर कहीं विलाप तो है, लेकिन पश्चाताप नहीं है । अगर कहीं किंचित पश्चाताप है भी तो

---

1. मन्नू भण्डारी - महाभोज - पृ. 12

उसमें से फूटनेवाले क्रांतिकारी प्रतिकार के अंकुर नहीं है । विलाप और पश्चाताप में फर्क भी है । विलाप दुःख को निराशा की ओर ले जाता है और पश्चाताप संशोधन की ओर । वर्तमान दण्ड गत पैंतालीस वर्षों के संशोधन के परिणाम नहीं है क्या ? जब नींव ही गलत पड़ी हो तो मकान की नयी दीवारें टेढ़ी-मेढ़ी तो उठेगी ही और कुछ ही समय में ढह भी जाएँगी । हर पाँच वर्ष बाद एक रोता हुआ राष्ट्र वोट के सामने होता है । क्या वह रुदन हमारी आत्मा को साफ कर सकेगा ? सिरोही में ही नहीं, देश में जहाँ कहीं भी बिसू की हत्या होती है तो मूलभूत विश्वासों की हत्या होती है । उसमें शोषण की अनेकमुखी राक्षसी आकृतियाँ लगातार प्रकट होकर अपना रूप दिखाती है । महाभोज इन आकृतियों को पहली बार माप सकने में समर्थ हो सका है ।"[1]

राजस्थानी दलित जीवन की लू पिंजरे में पन्ना

शोषित जनता के साथ घृणित राजनीति के अमानवीय व्यवहार का चित्रण मणिमधुकर के "पिंजरे में पन्ना" उपन्यास में मार्मिक ढंग से हुआ है । रेगिस्तानी लोगों का अभावग्रस्त जीवन ही उपन्यास का आधार है । इसमें उपन्यासकार ने रेगिस्तान के दलित लोग - खानाबदोशों, गड़िया लुहारों, सुरध्याणी ख्यालवालों - की जीवन कहानी प्रस्तुत की है । गड़िया लुहार के संबंध में उपन्यासकार कहते हैं कि यह जाति कहीं भी अटल नहीं रहती, ज़िन्दगी भर चलती रहती है ।

---

1. जगदीश नारायण श्रीवास्तव - उपन्यास की शर्त - पृ. 135

उनके रेत में जोने का कोई प्रमाण नहीं । "बालू पर तो कोई रास्ता नहीं बनता है । हर पदचिह्न को हवा उठा ले जाती है तुरन्त..... चील की तरह झपट्टा मारकर । फिर भी एक ढाणी से दूसरी ढाणी तक ; एक बस्ती से दूसरी बस्ती तक आते जाते हैं । मनुष्य और पशु । क्या पहचान होती है उनके पास ? क्या निशानी ? । जैसे परिन्दे आकाश की निस्सीमता में एक राह बना लेते है और उसपर सफर तय करते है, वैसे ही रेगिस्तान के शून्य में सांस लेनेवालों की आत्मा और दीठ में भी एक "डगर" निश्चित होती है । वे उसपर चलते हैं - केवल वही उसे देख सकते है, औरों केलिए वह अदृश्य होती है । केवल वही उसे जानते है, अन्य जनों के लिए वह अज्ञात रहती है ।"[1]

उपन्यास का प्रमुख पात्र पन्ना सुरध्याणी ख्याल में नायिका है -"सुरध्याणी-ख्याल के इतिहास में अपने अकृत सौंदर्य एवं अभिनय के बल पर ऊँचा...गौरवपूर्ण स्थान हासिल करनेवाली अद्भुत नायिका पन्ना ।"[2] ज़िन्दगी भर ख्याल की नायिका बने रहने की इच्छा थी उसमें । लेकिन वह पराजित हो जाती है । एक जाट युवक के साथ उसका संबंध था । उससे वह गर्भिणी हो गयी । सुरध्याणी ख्याल मंडली के नियम के अनुसार जो औरत नाटक में नायिका बनती है उसे माँ नहीं बननी चाहिए । ऐसी अनहोनी को रोकने के लिए नायिका को तुरंत घास खिला दिया जाता है जिससे पेट गिर जाय । लेकिन पन्ना उसके लिए तैयार नहीं थी । व रम्या को जन्म देती है ।

---

1. मणि मधुकर - पिंजरे में पन्ना - पृ. 42
2. वही - पृ. 14

उनके नियम के अनुसार अगर कोई नायिका गलती से बच्चा दे भी जाती है तो उसे हाँडी में बन्द करके ज़िन्दा गाड दिया जाता है । जाट नौजवान ने उसे घर बसाना चाहा । लेकिन वह तैयार नहीं थी । पन्ना उससे कहती है - "मैं नायिका रहूँगी ज़िन्दगी भर.... तू भूल जा मुझे, यही मेरी किस्मत है । गिरस्थिवाली औरत हूँ ही नहीं मैं ।"[1]

ऐसी महत्वाकांक्षी नारी - पन्ना घृणित राजनीति का शिकार बन जाती है । राजनीतिक नेता रिछपाल पन्ना के साथ मन-मर्जी करना चाहता है, जो पहले एक ज़मीन्दार था अब नेता बन गये । "तू रिछपाल को नहीं जानती, शैतान का अवतार है वह । पहले जमेदार था ठाढ, अब भोत पवरवाला नेता है ।"[2] लेकिन रिछपाल उसमें असफल हो जाता है । इसलिए वह पन्ना से बदला लेना चाहता है ।

रिछपाल ठाकुर को किसी न किसी तरह पता चल गया कि पन्ना माँ बन चुकी है । उसने ख्याल मंडलो को भडकाना शुरू कर दिया । उसने लोगों से कहा कि पन्ना नायिका धर्म से गिर चुकी है और उसने लोगों को पन्ना के खिलाफ खडा कर दिया । लेकिन पन्ना ने रिछपाल का परवाह नहीं की । पन्ना ने पन्नावास में एक हवेली बनवायी रिछपाल के लोगों ने उसको आग लगा दी । पन्ना को जहर दिया गया । वह महत्वाकांक्षी दलित नारी घृणित राजनीति का

---

1. मणि मधुकर - पिंजरे में पन्ना - पृ. 122
2. वही - पृ. 111

शिकार बन गयी । नारी के प्रति होनेवाले अत्याचारों तथा उसकी मुक्ति पर, मणि मधुकर ने अधिक ज़ोर दिया है । इस उपन्यास के अधिकांश नारी पात्र अत्याचारों का शिकार बन जाते हैं । पन्ना, बुज्जी, दीवी आदि इसकेलिए पर्याप्त प्रमाण हैं । बुज्जी को एक बार लोगों के सम्मुख नंगा रहना पडता है । दीवी के साथ पंचायत के लोगों ने दण्ड के नाते अत्याचार किया और पन्ना जो इसके सबसे बडा शिकार है, उसकी ज़िन्दगी को ही बरबाद किया गया ।

वोट की राजनीति और बिहारी दलितों का यथार्थ जल टूटता हुआ

राजनीतिक अत्याचार के प्रति विद्रोह की भावना रामदरश मिश्र के उपन्यास - "जल टूटता हुआ" में उपलब्ध है । बिहार के गाँव विशेष माटपुर और तिवारीपुर के जन-जीवन पर आधारित है यह उपन्यास । "मानव निरंतरता को जिन प्राकृतिक विभीषिकाओं अथवा जीवनगत विडंबनाओं ने नष्ट करने की कोशिश की है अपने उपन्यास में रामदरश मिश्र ने अपनी प्रतिरोधात्मक लेखकीय भूमिका प्रस्तुत करने की कोशिश की है । इस प्रक्रिया में वस्तुस्थिति को लेकर जहाँ जहाँ वह परेशान है, वस्तुत: वहीं सफल भी है । अपने उपन्यासों में वह जितनी गहराई से अव्यवस्था को पहचान सके है उतने ही बेबाक ढंग से वह वास्तविकता के अन्तर्विरोधों को अपनी अपनी आँचलिक भाषा में उतार भी सके हैं ।"[1] इस उपन्यास के द्वारा लेखक

---

1. जगदीश नारायण श्रीवास्तव - उपन्यास की शर्त - पृ. 90

ने इस सत्य को हमारे सामने रखा है कि वोट लेने के समय तो निम्नवर्ग को पूछ होती है बाद में उन्हें भुला दिया जाता है । लेकिन उनके प्रति किये जानेवाले अमानवीय कृत्यों में कोई कमी नहीं होती । उच्चवर्ग उन्हें सदा हलवाहे बनाए रखने का छल-छद्म करते हैं । उसके लिए अन्याय व आतंक का भी सहारा लेते हैं । इस उपन्यास के पक्षपाती है तत्कालीन राजनीति । उपन्यास में अमलेश का कथन है -"वह भी एक जमाना था कि लोग ललकार कर मैत्री और दुश्मनी करते थे, समर्थन और विरोध करते थे, अपनी बात पर मर मिटते थे वही गाँव है, लेकिन इसे समझाना मुश्किल हो गया है । शहरों की सी जटिलता यहाँ भी आ गई है । भाई-भतीजों को समझना कठिन हो रहा है..... राजनीति की स्वार्थगत दुरूहता यहाँ इस कदर फैल गई यह बात सभी के सामने आज जाने-अनजाने प्रत्यक्ष हो रही थी ।"[1] स्वतंत्र भारत में प्रजातंत्र के तहत उनका राजनीतिक शोषण होता है । उपन्यास में लवंगी का कथन इस सत्य का यथार्थ हमारे सामने रखता है । लवंगी हरिजन नेता जग्गु से कहती है - "हरिजनों के नेता मैं तुमसे फरियाद करती हूँ कि वोट लेनेवाले नेताओं से जाकर कहो कि हमारा खुन, खुन नहीं है, हमारी इज्जत, इज्ज़त नहीं है तो हमारा वोट ही क्यों है ? ये देखो जग्गु नेता, तुम्हें याद है कि जब मुझे दलसिंगार बाबा ने पकडकर बेइज्जत करना चाहा था तो मैं फरियाद लेकर कहाँ-कहाँ नहीं रोई लेकिन सबने मज़ाक करके टाल दिया था और तुमने भी कहा था कि जाने दो, बाबा लोगों से कौन लगे ? दीन दयाल बाबा से पूछिए कितनी बार काम करते समय मेरी बाँह पकडकर घसीटा है इन्होंने और मैं भीतर-भीतर रोकर चुप हो गयी हूँ,

---

1. रामदरश मिश्र - जल टूटता हुआ - पृ. 6

यह जानकर कि मेरी कोई नहीं सुनेगा ? और तो और पारबती बहिनी के बाबूजी उस बार जब होली में आये थे तो गलि में मुझे पकड कर रंग लगाने के बहाने खूब बेइज्जत करना चाहा था और जब फरियाद की थी तो लोगों ने मजाक में उडा दिया था जैसे चमारों की बहू-बेटियाँ इसीलिए होती है । और यह जगगू नेता है जो कल तक चिल्लाते थे कि नया जमाना आ रहा है, नयी ज़िन्दगी आ रही है ।"[1] शोषित जनता के साथ राजनीति का संबंध केवल "वोट" का संबंध रह गया हैं । वे इनकी समस्याओं का दुरूपयोग ही करते हैं । इसका स्वाभाविक चित्रण रामदरश मिश्र ने किया है । यह उनकी अपनी खासियत है और मानवतावादी दृष्टिकोण का परिचायक भी । "किसी विशिष्ट दार्शनिक दृष्टिकोण से बंधे न होने पर भी उपन्यासों के माध्यम से रामदरश मिश्र अपनी जिस सोच के साथ सामने आता है, वह प्रशस्त मानवीय सरोकारों को लेकर आगे बढनेवाली सोच है । उनका यथार्थ चित्रण और चिंतन दोनों ही भूमिघों पर गतिशील हुआ है । उनके पास वह लेखकीय संवेदना है जो वस्तुस्थिति का तटस्थ चित्रण करके ही नहीं चुक जाती वरन् न्याय और अन्याय के प्रश्नों पर पक्ष या विपक्ष का वरण करती है । "जल टूटता हुआ" में भी उन्होंने आज़ादी के बाद के गाँवों के बदलते हुए परिदृश्य को उभारा है और इस परिदृश्य के भीतर न्याय-अन्याय, नीति और अनीति का जो द्वन्द्व चित्रित किया है उसमें उनका पक्ष साफ है अर्थात् जिस विराट मनुष्यता को न्याय चाहिए, वे उसके पक्ष में है, उसके साथ है ।"[2]

---

1. रामदरश मिश्र - जल टूटता हुआ - पृ. 235-236
2. शिवकुमार मिश्र - प्रेमचन्द विरासत का सवाल - पृ. 140

राजनीतिक छल की पहचान सबसे बड़ा छल

बिहार में आर्थिक सत्ता आज भी भूपतियों के पास है जिसे वे येन-केन प्रकारेणा अपने वश में बनाए रखना चाहते हैं । इससे राजनीतिक वर्चस्व और प्रशासन तंत्र पर पकड के लिए आपा-धापी का एक अनन्त सिलसिला चल पडा है । इस आपाधापी में श्रम पर जीवित सर्वहारा दलित वर्ग कीडे-मकोडों की तरह पीसा जा रहा है । उनकी दर्दभरी कहानी है - मधुकरसिंह का "सबसे बड़ा छल" ।

दलित जनसाधारण के नागरिक व मौलिक अधिकार अभी तक उच्चवर्ग और सामर्थ्यवानों के यहाँ बन्दी है । देवनाथ के शब्दों में यह बात स्पष्ट है -"भूमि की हदबन्दी केवल मृगतृष्णा है । कोई भी सरकार सच्चे दिल से इसके लिए उतारू नहीं है.... अभी तक जो भी नियम बने है, गरीबों को चूसने के लिए है । हरित क्रांति से फायदा बड़े किसानों को छोडकर किसे हुआ है ?..... राजनीति से हिन्दुस्तान को कोई फायदा नहीं पहुँचा ।"[1] उनकी लडाई कोई स्वार्थ प्रेरित नहीं है वरन् यह उनके लिए अस्तित्व की लडाई है । इन तथ्यों का चित्रण उपन्यास में यत्र-तत्र हुआ है "....छोटी बडी जातियों के बीच जम कर लडाई चल रही है । छोटी जातियों के पास कुछ भी नहीं है । ज़मीन, मकान, घर, थाना, पुलिस, बी.डी.ओ, शहर, कचहरी सब जगह अपने लोग हैं। यहाँ तक कि गाँव में आने जाने का रास्ता भी उनके लिए बन्द कर दिया गया है ।"[2]

---

1. मधुकर सिंह - सबसे बड़ा छल - पृ. 100
2. वही - पृ. 10

उच्चवर्ग दलितों का आर्थिक शोषण ही नहीं करते वरन् उनकी अस्मिता पर भी खुलकर आघात पहुँचाते हैं फिर भी वे आतंक के मारे चुप लगा लेते हैं । गाँव का चौधरी गरीब नाथू चमार की बेटी को दिन दहाडे उठवा लेता है । उसके माँ-बाप डर के मारे कुछ नहीं कहते । समझ लेते है कि बेटी मर गयी ।

बिहार में लाठी के बल पर दलितों को मताधिकार से वंचित किया जाता है । इस कटु सत्य का निरूपण उपन्यास में हुआ है "चुनाव के दिन जो भी चमार, दुसाध, मियाँ, बढ़ई, लुहार, कहार है सबके घर जंजीर चढा दो । जो भी बलदेव के लिए वोट माँगने आए उसका सिर उतार लो ।"[1] बलदेव और बुटाई सिंह, जो नई चेतना के प्रतिनिधि है, उनका साथ छोटी जाति के लोगों ने दिया क्योंकि वे चौधरी के आतंक व अत्याचारों से त्रस्त हो चुके थे । उन्हें प्रजातंत्र में अपनी उन्नति के अवसर दिखाई देने लगे थे, इस कारण वे बलदेव आदि के साथ चौधरी से संघर्ष के लिए उठ खडे हुए थे । "... अचानक वह चौधरी के खेतों की ओर पचास से भी ऊपर लोगों को देखकर चौंक गया । बुटाई सिंह भाला लेकर तना हुआ था । और तमाम लोग हाथों में हंसा लिए हुए उसकी ओर बढे आ रहे थे ।.... वे सभी आस-पास के ही अहीर, चमार, दुसाध, कोइरी और बुटाई सिंह के अलावा एक आध ठाकुर भी था ।"[2]

---

1. मधुकर सिंह - सबसे बडा छल - पृ. 39
2. वही - पृ. 75

यह चित्र गाँव में आयी राजनीतिक चेतना को स्पष्ट करता है । सामन्तवादी व्यवस्था के विरुद्ध छेड़ी गयी इस क्रांति में दलित वर्ग अपना हित देखता है । इसलिए अनीतिपूर्वक की गयी चौधरी की खेती की फसल को गाँववाले काट लेते हैं । लेकिन एक महीने बाद ही चौधरी इसका बदला इस प्रकार लेता है कि नवचेतना की यह अग्नि बुझकर राख हो जाती है । एक महीने के भीतर ही एक दिन यकायक मुसहरों, दुसाधों और चमारों की बस्ती में आग लग जाती है । एक दुसाध और उसके पाँच साल का लड़का भी इस आग को भेंट हो जाते हैं । दर्जनों परिवार बेघर हो जाते हैं । चौधरी दलितों के समर्थक बुटाई सिंह को हत्या करवाकर निर्दोष देवनाथ को इस काण्ड में फँसा देता है । इसप्रकार चौधरी कोई भी छल करने में सफल हो जाता है । चेतना की आग थोड़े समय के लिए बुझ जाती है । इस उपन्यास के द्वारा लेखक ने राजनीतिक सत्ता के बल पर जिसप्रकार दलितों पर हमला किया जाता है इसका वास्तविक चित्र प्रस्तुत किया है ।

घृणित राजनीति का स्वार्थ सीताराम नमस्कार

मधुकर सिंह के उपन्यास "सीताराम नमस्कार" में भी इसी प्रकार घृणित राजनीति के शिकार बने दलित लोगों की कथा कही गयी है । उपन्यास में विधायक बनवारी सिंह एक पूर्व सामन्त है जो राजनीति में आकर प्राकारान्तर से सामन्तवाद को पुनः स्थापित करना चाहता है । वह लछमनपुर में अपना बर्तन का कारखाना लगाने

के लिए चमार टोला को उजाड देता है, और समस्त लोगों को बेघर कर देता है । गाँव के नवयुवक जब इस बात का विरोध करते हैं तो सीताराम पाण्डे उन्हें नौकरी का लोभ देकर फुसल लेता है । उन युवकों को साथ लेकर चमार टोला पर ट्रक्टर हँक्वा देता है । वह लोगों को डराते है -"जल्दी भागो । सरकार हुक्म है । पीछे से ट्राक्टर आ रहा है । भागो नहीं तो ज़मीन सहित आदमो जुत जाएगा । हटो - हटो ।"[1]

जानवरों की तरह इन्सानों को भगा दिया जाता है, जो आसमान की खुली छत के नीचे गाँव के बाग में जाकर डेरा डालते हैं । पेट की आग की विवशता बहुत ही निर्मम होती है । इन्हीं लोगों को उस कारखाने में मज़दूरी करनी पडती है । दूसरी बार जब शीत की लहर चलती है तो अपने प्राण बचाने के लिए ये श्रमिक लोग कारखाने के अन्दर शरण लेते हैं । यहाँ रचनाकार सत्ताधारी घृणित राजनीति की अमानवीयता पर विचार करने के साथ साथ इस सत्य की ओर भी इशारा करता है कि औद्योगिकरण का बुरा असर किसप्रकार दलित लोगों पर पडता है ।

राजनीतिज्ञों की विकृत मानसिकता परिशिष्ट

भारतीय समाज में अनुसूचित जाति के लोगों की अपनी समस्याएँ हैं, जिनकी बराबरी की कोई दूसरी सामाजिक समस्या

१. मधुकर सिंह - सीताराम नमस्कार - पृ. 24

आज देश के सामने नहीं है । सदियों से उच्चवर्ग के शोषण और घृणा का शिकार यह वर्ग आज भारतीय संविधान की सहायता से अपने सामान्य मानव अधिकारों को हासिल करने के लिए संघर्ष कर रहा है । इस वर्ग पर आर्थिक और सामाजिक दबाव इतना अधिक है कि वह अपने ही देश में द्वितीय या तृतीय श्रेणी का नागरिक बना हुआ है । यह वर्ग आज भी सामाजिक और आर्थिक शोषण का भयंकर रूप से शिकार है और राजनीतिक दल इसे शोषण से सर्वथा मुक्त करने तथा सामाजिक दृष्टि से उच्चवर्ग के निकट लाने की ईमानदार कोशिश के स्थान पर इसका राजनीतिक उपयोग करने के प्रयास में ही ज़्यादा रुचि लेते दिखाई देते हैं । राजनीतिज्ञों की इस विकृत मानसिकता पर प्रकाश डालने की दृष्टि से गिरिराज किशोर के उपन्यास "परिशिष्ट" काफी महत्त्व रखता है । उपन्यास में ऐसे प्रसंग अनेक है जिससे दलितों के साथ राजनीतिज्ञों की इस अमानवीयता व्यक्त होती है ।

उपन्यास में बावनराम जो अनुसूचित जाति के है अपने बेटे अनुकूल को आई.आई.टी में भर्ती कराना चाहता है । वह बड़े महत्वाकांक्षी है - "मैं चाहता हूँ कि तुम एक दिन अपनी कार से आकर घर के सामने उतरो.... जिससे लोग यह तो देखें कि हम लोगों की संतान भी कारों और मोटरों में बैठकर चलने के लिए पैदा होती है । हम छोटे है, क्योंकि हम हिम्मत हारकर, यह मान लेते है कि हम छोटे है और छोटे ही रहेंगे । अपने ज़माने में मैं ने गाँव का पुश्तैनी काम त्यागकर फैक्टरी की नौकरी यही बताने के लिए की

थी कि हम लोग गाँव के मरे हुए ढोरों की खिदमत के लिए ही नहीं बने, हम फैक्ट्रियों में भी काम कर सकते हैं ।"[1]

बेटे को आई.आई.टी में भर्ती कराने के लिए अपने संसद सदस्य चौधरी से मिलने के लिए वह दिल्ली जाता है क्योंकि उसे पता चला गया था कि इन महती संस्थाओं में इस वर्ष का दाखला किसी भी प्रभावशाली संसद सदस्य को पकड लेने से संभव है । बावनराम स्वयं एक छोटे नेता थे किसी न किसी रूप में अपनी बिरादरी के वोटों के पुरोधा कहे जाते थे, इसलिए उनकी पहुँच संसद सदस्य तक थी । बावन राम अपने बेटे के साथ दिल्ली चला जाता है । उनके मन में चौधरी के प्रति बडी प्रतीक्षा है -"जब भी चौधरी आते है तो बहुत बहुत इसरार करते हैं कि बावनराम भैया जब दिल्ली आओ तो सीधे साउथ ऐवन्यू ही आना । अपना ही घर समझना । इधर-उधर मारे फिरोगे तो हमें तकलीफ होगी । दिल्ली तो आदमियों का जंगल है वहाँ जब भी कभी बसेरा करो तो ऐसे दरख्त के नीचे करो जो जाना-पहचाना हो और जिसके मुँह खून न लगा हो । कभी कभी यहाँ के दरख्त भी आदमखोर होते है.....। बेचारे बहुत मानते है । ऐसा कभी नहीं होता कि मिलने जाऊँ, और खडे होकर हाथों-हाथ न लें । बडे आदमी तो सब हो जाते हैं पर भला होना मुश्किल है ।

---

1. गिरिराज किशोर - परिशिष्ट - पृ.13

दिल्ली जाकर बावनराम की मुलाकात चौधरी से होती है । वह चौधरी के सामने अपनी इच्छा प्रकट करता है - "बात यह है कि सब की सेवा करते हम लोगों की पीढ़ियाँ गुज़र गयीं । हमें तो पता नहीं चला कि दुनिया बढ़कर इतनी बड़ी हो गयी । यहाँ तक कि दूसरों की भलाई की बातें भी सोची जाने लगी । अचानक पता चला कि इन बच्चों के चमार, चूढ़े, धोबी, जमादार बने रहने के अलावा इन्सान बनकर जीने के रास्ते भी खुल रहे है । आपने तो देखा ही है कि खलासी के रूप में हम लोहा-लंगड़ ढोया करते थे.... उससे पहले हमारे बाप मरे हुए ढोर घसीट करते थे । आपका यह इकलौता लड़का है, दसवीं पास किये दूसरा साल है,.... वैसे आगे पढ़ रहा है..... मेरा बेटा है इसलिए नहीं कह रहा है, बल्कि इसलिए कह रहा हूँ कि हम जैसे लोगों के घरों में ऐसे होनहार लड़के मुश्किल से होते हैं । सुना है इस साल आरक्षित कोटा में आई.आई.टी के कालिजों में, बिना इम्तहान के पाँच साला कोर्स में सीधे भर्ती की जा रही है ।"[1] बावन राम के इन शब्दों में उसकी पराधीनता और महत्वाकांक्षा स्पष्ट है ।

इस संदर्भ में चौधरी की प्रतिक्रिया कुछ निराशाजनक है । वह बावनराम के सामने उस संस्था संबंधी कुछ बातें रखता है । जो एक तत्कालीन यथार्थ है लेकिन इस कथन में राजनीतिक नेताओं के पलायन की प्रवृत्ति एक हद तक स्पष्ट है क्योंकि सामाजिक अनाचारों के प्रति विद्रोह खड़ा करना राजनीतिज्ञों का कर्तव्य है । लेकिन

---

1. गिरिराज किशोर - परिशिष्ट - पृ. 61-62

यहाँ चौधरी तो अपने को बेसहारा ही समझते हैं । नहीं तो उन उलझनों से अपने को बचाना चाहते हैं । उसके शब्दों में - "सुना है बहुत बड़ी जगह है.... वहाँ पढ़कर तुम्हारा लड़का हाथों से निकल जाएगा । यही सवाल पूछा गया था कि जो होशियार लड़के पास करते हैं वे बेगाने होकर विदेशों में चले जाते हैं.... पिछड़े वर्ग के लोगों को दाखले नहीं दिये जाते.... वैसे वहाँ पढ़नेवाले बच्चों के बारे में अच्छी राय नहीं है । होते तो होशियार पर बिगड़ जाते हैं । आदमी उन्हें भुनगा लगता है । अभी तो देश को, आदमी को आदमी समझने वाले लोगों की ज़रूरत है ।"[1] लेकिन बावन राम अपनी इच्छा से पीछे हटने को तैयार नहीं होता । इसलिए वह चौधरी से विनम्र अनुरोध करता है -"मैं तो अपने लोगों के बच्चों की बात कर रहा था । आप लोगों के बच्चे होशियार नहीं होंगे तो किसके होंगे । हम लोगों के यहाँ तो, यहाँ तक की पढ़ाई तक ही पहुँचना दुश्कर है । यहाँ तक पहुँचाने में ही मुझे कितनी साँसत मोल लेनी पड़ी । बाहर तो ली है अन्दर भी ली । बस रह-रहकर आँखों के सामने चाँद-सूरज की तरह यही बात बार-बार उदय होती है कि अनुकूल इन्जीनियर हो जाये । यह कुछ हो जायेगा तभी उस खन्दक से बाहर आने लायक होंगे । नहीं तो सबकी ज़िन्दगी दुर-दुर, पर-पर में ही कटेगी ।"[2] यह सुनकर चौधरी उसकी सहायता करने के लिए तैयार होता है...."कल मिनिस्ट्री में फोन कर दूँगा । आप जाकर मिल लीजिए बावन रामजी... लड़का हाथों से वोज्जा-वोज्जा...."[3]

---

1. गिरिराज किशोर - परिशिष्ट - पृ. 62
2. वही - पृ. 63
3. वही - पृ. 63

बावनराम चौधरी के कहने के अनुसार कृष्णन साहब से मिलने के लिए शास्त्री भवन पहुँचता है जो बड़े अफसर है । हर कहीं की तरह वहाँ भी पहले उसे अपमानित होना पड़ता है । उसके साथ काउंटरवाले आदमी का व्यवहार इन्सानियत के खिलाफ ही है । वह हँसी उड़ाते हुए कहता है -"अरे साहब, आपको कोन रोक सकता है, आप लोग तो सरकार की हकीकी दामाद है ।... खड़े क्या है, भरिए रजिस्टर में अपने अपने नाम.... नाम कैपिटल वर्डस् में.... हैण्डराइटिंग तो बढ़िया है आपके बच्चे का । अब आप लोगों में भी अच्छे लड़के होने लगे । ओ हो.... यह सब भरने के चक्कर में न रहें । अपने बाबू के लिखे हुए के नीचे एज़न लगा दो । इन दोनों खानों में दस्तखत कर दो । बच्चे, थोड़ा-सा अक्ल से काम लिया करो । आई.आई.टी में दाखले के लिए जो चिट्ठी लिखवाकर लाये हो... वहाँ जाकर क्या भाड़ झोंकोगे ?" फिर वह कहता है -"इम्तहान भी पास कर लिया और हैण्ड राइटिंग भी बनाया । अब ज़रा अक्ल की भी ज़रूरत है । आप लोगों के खिलाफ यही शिकायत है कि अक्ल भैंस के पास दूध पीने के लिए छोड़ देते है ।"[1] वहाँ उनकी मुलाकात कृष्णन साहब से होती है । वह अनुकूल को आई.आई.टी में भर्ती करने का इन्तज़ाम करता है ।

यहाँ यह स्पष्ट है कि दलित लोग अपने अधिकार प्राप्त करने के लिए कहाँ तक कष्ट उठाते हैं । यही भी उपन्यास में

---

1. गिरिराज किशोर - परिशिष्ट - पृ. 75

व्यक्त होती है कि राजनीतिक नेता इनके कार्यों में कहाँ सतर्क है । वे सामाजिक वैषम्य से पूर्ण रूप से अवगत है लेकिन उसके खिलाफ आवाज़ उठाने के लिए तैयार नहीं है । यह दलित जनता में प्रगति न आने का एक प्रमुख कारण है । याने राजनीति में जो मूल्यच्युति हुई है । उसका गहरा असर दलित जन साधारण पर ही पडा है । उपन्यास में चौधरी का यह कथन अवमूल्यित राजनीति की ओर संकेतित है -"मैं राजनीति में सेवा करने के ख्याल से आया था.... पर है नौकरी ही । जिस मिलावट को निकालना चाहता था वह दो आने से बढकर पन्द्रह आने हो गयी । अब सच्चाई कहीं नहीं....। पानी में दूध की तरह मिलावट है । देखनेवाले को दूध का अहसास बना रहता है ।"[1]

एक अनदेखे पहलू का अनावरण धरती धन न अपना

चमारों के जीवन गाथा प्रस्तुत करनेवाले जगदीश चन्द्र के "धरती धन न अपना" उपन्यास में भी राजनीतिज्ञों के विकृत चेहरे का दर्शन होता है । उपन्यास में चमादडी के निवासी सर्वहारा है अपने शरीर के सिवाय उनके पास और कोई पूँजी नहीं है । स्त्रियाँ सवर्णों के घरों में काम करके बासी रोटियाँ पाती है और पुरुष खेतों में । चौधरी लोग कभी भी किसी भी निरपराध चमार को मार पीट सकते है । उसकी कोई दाद फरियाद नहीं होती । चमारों ने इस नरकीय और पशुतुल्य जीवन को अपनी नियति मान लिया था । "लेखक ने हरिजनों की बस्ती चमादडी की बडी यथार्थ

---

1. गिरिराज किशोर - परिशिष्ट - पृ. 89

चित्र पेश करते हैं । यह गन्दी बस्ती गोबर की तेज बदबू से भरी है । कुए के इर्द-गिर्द पानी और कीचड भरे है । कच्चे मकानों के सामने गन्दे पानी और गन्दी नालियाँ है । मैले-कुचले फटे-पुराने कपडों में लिपटी ग्रामीण स्त्रियाँ, नाक सुडसुडाते नंग-धडंग बच्चे, गाँव के चौधरी हरनाम सिंह के अत्याचार, हरिजनों को जूतों से पीटे जाने की आवाज़ें, याचनाभरी चीख की गूँज, भयभीत स्त्रियाँ और बच्चे, चौधरी की भद्दी गलियाँ, जानवरों के प्रति किये गये व्यवहार से अतिक्रूर व्यवहार - ये सब हरिजन गाँव की सांसत भरी ज़िन्दगी के परिवेश है । इसी गाँव का काली है, जो इस उपन्यास का कथा नायक है ।"[1] काली ने इन गरीबों को संघर्ष की राह पर खडा किया ।

काली अपनी बिरादरी के कुछ युवकों को संगठित करके चौधरियों के खिलाफ संघर्ष करने की कोशिश करता है । काली इसके लिए डा. विशनदास और कामरेड टहल सिंग के संयोग से मज़दूर हडताल करने को सोचता है जो हमेशा क्रान्ती और पीडित जनता की बात कहा करते थे । लेकिन काली को निराश होना पडता है । उन लोगों ने काली का साथ नहीं दिया । काली के कथन से यह बात स्पष्ट होती है - "मुझे उम्मीद थी कि डाक्टर हमारी कुछ मदद करेगा । वह रोज़ कहता है कि वह गरीबों के पक्ष में है । उससे अनाज माँगा तो उसने जवाब दिया कि वह हमारे हक में जलसा करेगा । वह लंबी चौडी बातें करता है जो मेरी समझ में नहीं आती ।"[2]

---

1. डॉ. बदरीप्रसाद - प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास - पृ. 150
2. जगदीश चन्द्र - धरती धन न अपना - पृ. 197

काली के कथन से राजनीतिक नेताओं का पोल खोल उठता है । फिर भी काली चौधरी के खिलाफ लड़ने को तैयार होता है । यह प्रयास असफल होने पर भी अर्थपूर्ण है । शिवकुमार मिश्र ने ठीक ही कहा है- "उपन्यास में समाज सेवकों, धार्मिकों तथा क्रांतिकारी लफ्फाजों की कलई को भी खोला गया है, और इस प्रकार इस तथ्य को रेखांकित किया गया है कि ज़रूरत शब्द को कर्म के स्तर पर उतार कर चरितार्थ करने की है । गाँवों की धरती आज भी सुलग रही है । ऊपरी बदलाव चाहे जितना दिखाई पड़े, बुनियादी सवाल आज भी ज्यों का त्यों है, और सामाजिक ढांचे में बुनियादी बदलाव के बिना शोषित मनुष्यता वह न्याय नहीं पा सकती जिसके लिए उसकी जद्दोजेहद है । ज़रूरत संघर्ष को बुनियादी सवालों से जोड़ने की, और सही दिशा देने की है । जगदीशचन्द्र का यह उपन्यास बहुत साफ सुथरे तरीके से गाँवों के परंपरागत सामाजिक संबंधों की सामंती बुनियाद का चित्रण करता है तथा बदलती हुई वास्तविकता से उसके टकराव को मूर्त करता हुआ इस निष्कर्ष तक हमें पहुँचाता है कि संघर्ष को ज़ारी रखने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है ।"[1]

दलित जनता के साथ राजनीति के संबंध के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि राजनीतिक दल भी दलितों को दलित ही बनाए रखना चाहते हैं । उन्हें इनकी वोटों पर ध्यान है । वे उन्हें शोषण से, भ्रष्टाचारिता से मुक्त करके मुख्यधारा में शामिल करने

---

1. शिवकुमार मिश्र - प्रेमचन्द विरासत का सवाल - पृ. 143

का कोई कारगर कदम उठाते नहीं । इस प्रकार दलितों का जीवन क्लेशपूर्ण बना ही रहता है । "भारतीय राजनीति में धपला पैदा करनेवाले नारों की बहुतला है किन्तु विचारों की दरिद्रता है, क्षुद्र लोगों की भीड है परन्तु प्रखर व्यक्तित्व का अभाव है, साधनों का विस्तार है तो साधना का संकोच है । राजनीतिक वातावरण दिन पर दिन घृणा, द्वेष, हिंसा से ढँकता चला जा रहा है । और शान्ति विवेक, धैर्य, सत्य, संभाषण, सहानुभूति, सहिष्णुता और संयोग की मनोवृत्ति मानव-समुदाय से अनुपस्थित होती चली जा रही है । चुनाव विभिन्न वर्गों, समुदायों, जातियों के बीच की लडाइयाँ बनते चले जा रहे हैं । कानून कागज़ी हो चला है और रचनात्मक व्यवस्था टूटती नज़र आ रही है । ऐसी दशा में बढते आर्थिक और नैतिक संकट की पकड में उत्तरोत्तर बढती भारतीय जनसंख्या अपने को निस्सहाय और विपन्न स्थिति में महसूस कर रही है । जीवन उसके लिए एक अभिशाप या मृगतृष्णा का रूप ले चुका है । हिन्दुस्तान की अधिकांश आबादी अपनी दीनता और दरिद्रता के एहसास से निराशा और गूँगी बनकर अपने मिट्टी के धरौंदों में सिमटी हुई है । नगरीय भारत का सुसंगठित समाज राजनीतिक सुविधाओं को अपनी ओर मोड लेने के कार्य में अवश्य सफल हुआ है, परन्तु वहाँ भी उनके आसपास की झोंपड पट्टियाँ अभी भी अपनी प्रारंभिक आवश्यकताओं से वंचित है ।"[1]

---

1. जगदीश श्रीनारायण श्रीवास्तव - उपन्यास की शर्त - पृ. 264

निष्कर्ष

साठोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों ने अपने समय और समाज से जुड़कर दलित जीवन यथार्थ को न केवल अपने उपन्यासों की कथावस्तु ही बनायी अपितु जागरूक रचनाकार की हैसियत से वर्तमान गलत व्यवस्था की विसंगतियों के परिणामस्वरूप उभरे दलित जनता की अकुलाहट, वेदना और असंतोष को यथार्थाभिव्यक्ति भी दी है । इस सिलसिले में उन्होंने वर्तमान अवमूल्यित राजनीति के प्रति सख्त विरोध प्रकट किया है । जन कल्याण के लिए जिस राजनीति का रूपायन वही आज उसका शोषक तत्व सिद्ध हो चुका है ।

सत्तासीन और विपक्षी दल शोषित जनसाधारण से दूर खड़े हैं । ये लोग इनकी समस्याओं से लाभ उठाना चाहते हैं और इनकी आवश्यकताओं का दुरूपयोग ही करते हैं । इस यथार्थ की ओर साठोत्तर उपन्यासकारों ने संकेत किया है । उनके मुताबिक सत्तासीन राजनीतिक दल आजीविका एवं अपनी हैसियत के लिए लड़ने वाले शोषित निम्न वर्ग पर अपनी सत्ता के बल पर अत्याचार ही करता है । विपक्षी दल दलितों को अपने हाथ की कठपुतली बनाकर उन्हें दिशाहीन कर देता है । इतना ही नहीं उनकी उभरती चेतना को किसी न किसी प्रकार कठिन करने का प्रयत्न भी करता है । इन सच्चाईयों से अनभिज्ञ ये अशिक्षित, अज्ञानी, भूखे दलित आज भी राजनीति के पीछे पड़े हुए हैं । उनका यही विश्वास है कि राजनीति और उसके नेता उनकी भलाई के लिए ही काम कर रहे हैं । इस राजनीतिक छल एवं जन सामान्य के खिलाफ किए जानेवाले षड्यंत्र का सही दस्तावेज़ है साठोत्तर हिन्दी उपन्यास ।

अध्याय छः

दलित जीवन का समाज शास्त्र

उच्चवर्ग द्वारा निर्धारित समाजशास्त्र

दलितों का अपना कोई अलग समाज शास्त्र नहीं । उनका समाजशास्त्र समाज के सत्ता संपन्न उच्चवर्ग द्वारा गठित समाज शास्त्र ही है । सभी शक्तियाँ उनके अधीन हैं इसलिए वे सुविधा भोगी वर्ग है । वे समाज के शक्तिहीन या दुर्बल पर अपना अधिकार जमा लेते हैं । इस अधिकार को बनाए रखने के लिए अनुकूल समाजशास्त्र का गठन वे स्वयं रच लेते हैं । इसलिए जिस समाज में दुर्बल वर्ग जीवन बिताता है वह समाज और उसका नियम उनका अपना नहीं बल्कि उनपर थोपा गया है । ऐसे समाज में सहज ही शक्तिशाली लोग धीरे धीरे सवर्ण और दुर्बल वर्ग दलित बन गया है । यह सच ही है कि प्रागैतिहासिक काल से अब तक इनके बीच का संघर्ष भी ज़ारी है - "इस प्रकार का संघर्ष प्रत्येक युग में उच्च, धनवान्, शासक और शोषक वर्ग एवं पीडित, दलित तथा निर्धन के बीच विद्यमान रहा है । प्राचीन काल में यह संघर्ष स्वामी और दास के बीच, मध्यकाल में सामन्त और खेतिहर मज़दूर तथा बेगार करनेवाले निम्न वर्ग के बीच और आधुनिक युग के विकासशील औद्योगिक समाजों में पूँजीपति और श्रमिकों के मध्य निरंतर चल रहा है ।"[1]

आज उच्चवर्ग याने शोषक वर्ग ने अनेक रूपों में पूरे समाज पर अपना अधिकार जमा लिया है । सत्ता, धर्म, राजनीति आदि उनके ही प्रतिरूप है । उसीप्रकार दलित भी बहुधा विभक्त है । जाति के नाम पर पिछडे लोग, आर्थिक अभाव से त्रस्त लोग और

---

1. नरेन्द्र सिंह - दलितों के रूपान्तरण की प्रक्रिया - पृ. 100

अन्य अनेक कारणों से पीड़ित मानव आदि । इसलिए आधुनिक संदर्भ में दलित से मतलब किसी जाति विशेष से नहीं बल्कि समस्त पीड़ित-शोषितों से है । उनका समाज शास्त्र वास्तव में शोषकों का प्रदत्त समाज शास्त्र है । उनके समाज शास्त्र के अध्ययन का मतलब उन शक्तियों का विश्लेषण तथा अनावरण है जिन्होंने उन्हें दलित बनाए रखने में अपनी अहम भूमिका निभाई है ।

व्यक्तियों के संघ से समाज बनता है । मनुष्य संगठित समाज में ही अपना जीवन-यापन करता है । जिस परिवेश में वह रहता है, वही उनके अनुभवों को गति और दिशा प्रदान करता है । वह अपनी रुचि के अनुसार जीवन बिताना चाहता है । उसकी रुचि सांस्कृतिक परंपराओं और धार्मिक मान्यताओं से संचालित होती है । मनुष्य जिस समाज में रहता है, उस समाज को सुचारू व्यवस्था के लिए उसके कुछ नियम और कानून होते है जिनका पालन सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य के लिए अनिवार्य है । प्रत्येक समाज विभिन्न समुदायों, वर्गों और समूहों में विभक्त रहता है ।

दलित ऐतिहासिक विकास

भारतीय सामाजिक व्यवस्था बहुत प्राचीन है । सामाजिक कार्यों को सुचारू ढंग से चलाने के लिए प्राचीन काल में ही आर्यों ने कुछ नियम निर्धारित कर रखे थे । समाज में उचित व्यवस्था बनाए रखने के लिए आर्यों ने वर्णाश्रम धर्म का सूत्रपात किया था ।

वर्णाश्रम व्यवस्था ने जीवन की विभिन्न अवस्थाओं के लिए विभिन्न कार्यों का निरूपण किया है । उसने जीवन को चार भागों में बाँटकर प्रत्येक भाग के लिए निश्चित कर्म और नियम निर्धारित रखा है । चातुर्वर्ण्य को व्यवस्था भी आर्यों को देन थी जिसके अनुसार भारतीय समाज को चार वर्णों में बाँट दिया गया था । प्रत्येक वर्ग का निश्चित व्यवसाय था । उस समय यह व्यवस्था कर्म पर आधारित थी । परन्तु कालान्तर में मनुष्य की स्वार्थ लोलुपता के कारण उसमें विकृति आ गयी । परिणामत: कर्म जाति बन गया और जन्म से जाति भी निर्धारित होने लगी । बाद में जाति शोषण का माध्यम बन गई । वर्ण-व्यवस्था में अभिजात वर्गीय ब्राह्मण और क्षत्रिय विशिष्ट माने जाते थे और समाज की समस्त सुविधाएँ उनके लिए बनाई गई थी । इनके बाद वाणिज्य से संबद्ध वैश्यों का स्थान था । इस व्यवस्था में सबसे निम्न स्तर अनार्य शूद्र का था ।

मध्य युग के कुछ पूर्व ही ब्राह्मण वर्ग को स्वार्थ-लोलुपता से तथा वर्गों का विभाजन कुलगत होने से जाति-प्रथा के बंधन और नियम अत्यंत कठोर हो गए थे । इस वर्ग ने अपनी परंपरागत प्रभुता को बनाए रखने के लिए धर्मशास्त्रों का सहारा लिया । "वर्ग समाज में मध्य युग तक के समूचे इतिहास या सामाजिक विकास में धर्म की भूमिका सांस्कृतिक वर्चस्व के अभिलाक्षणिक रूप में ही सर्वाधिक प्रभावी और कार्यरत रही है । जहाँ योरेपीवादी दुनिया के अधिकांश भाग में, धर्म, राज्य से अन्तक्रिया कर और उसके समानान्तर संस्था के रूप में विद्यमान रहा है । वहीं, हिन्दुस्तानी प्रायद्वीप में इस ऊपर

तौर पर राज्य से अन्तर्संबंधता के अलावा जातिप्रथा और वर्णाश्रम धर्म के माध्यम से नीचे से भी लोगों को सीधे सांस्कृतिक वर्चस्व का शिकार बनाया गया । इनकी वर्गीय स्थिति को वर्ण के रूप में, सिर्फ जन्मगत ही नहीं पूर्व जन्म के फल के रूप में ईश्वर (प्रदत्त) स्थिति बताकर, उससे उबरने का इस प्रदत्त जन्म में मात्र वर्णाश्रम धर्म के पालन में निहित कर, सारे सवालों और प्रतिरोध के मौकों को जड़मूल से ही खत्म करने की निहायत धूर्ततापूर्ण साजिश भी इस वर्चस्व में निहित थी । यह सब धार्मिक सिद्धान्तों, स्मृतियों आदि धार्मिक ग्रन्थों के ज़रिए ही संभव हुआ था ।"[1] इससे समाज का उत्पादक, शिल्पि और श्रमिक वर्ग आगे चलकर नीच और अस्पृश्य माना गया । ये अस्पृश्य-शूद्र मेहनतकाश थे । उत्पादक वर्ग होते हुए भी इनकी दशा दासों जैसी हो गई । स्वयं का कोई अधिकार नहीं था । इनका कर्तव्य केवल द्विजों की सेवा-शुश्रूषा और उनके लिए उत्पादन करना था । मध्यकाल में आकर इस दलित वर्ग का निरंकुश शोषण होने लगा । सामन्ती व्यवस्था के पोषकों ने मनुष्य को उच्च-नीच में बाँटते हुए उनके साथ पशुवत् व्यवहार किया । "मध्ययुगीन सामंतवादी समाज में वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण रूप से जाति-व्यवस्था में परिणत होने पर पीड़ित-दलित-निम्न वर्ग का सामाजिक जीवन स्तर उत्तरोत्तर निम्नतम होता चला गया । इस उत्पीड़ित दलित वर्ग की स्थिति अधिक दयनीय हो गयी थी । मनुष्य की श्रेष्ठता जातिगत और पूर्वनिर्धारित विधि के अनुसार निर्धारित होती थी ।"[2]

---

2. नरेन्द्र सिंह - दलितों के रूपांतरण की प्रक्रिया - पृ. 102

1. रवीन्द्र शुक्ला - विकल्प - दिसंबर 1997.

यहाँ जातिविशेष की सदस्यता का आधार जन्मगत है । इसलिए दलित व नीच होने का आधार भी जन्मगत है । चमार जाति में उत्पन्न व्यक्ति नीच ही माना जाता रहेगा चाहे उसकी सात पीढ़ियों में किसी ने भी चमड़े को हाथ न लगाया हो । क्योंकि वह वंश परंपरा से एक नीच जाति से संबद्ध है । वर्तमान व्यवसाय से जातिपरिचय का कोई सरोकार नहीं माना जाता । धोबी कुल में उत्पन्न व्यक्ति आज सुनारी का काम करता है फिर भी वह कहलाएगा धोबी ही । इसी आधार पर उसे नीच माना जाएगा । इसके विपरीत कोई ब्राह्मण कंपनी के जूते की दूकान खोलें और दिन में हज़ार बार चमड़े पर हाथ लगाता रहें तो भी वह ब्राह्मण ही कहलाएगा, चमार नहीं ।

सामन्ती व्यवस्था में खाने पहनने की चीज़ें मशीनों से नहीं हाथ से, बड़े पैमाने पर नहीं छोटे पैमाने पर कारखानों में नहीं, खेत, घर या दूकान में तैयार की जाती है । हल-मांची की खेती से लेकर चरखे- करके की कताई-बुनाई तक हर उद्योग में पूरा कुटुंब शामिल होता है । जो पेशा बाप का वही बेटे का । इस तरह पेशे के हिस्साब से जातियाँ बनती है । जाति व्यवस्था के प्रभाव से दलित जातियों मे भी परस्पर स्तर भेद है । यहाँ तक कि एक ही जाति की दो उप-जातियों में भोजन-जलपान तो चलता है पर विवाह संबंध नहीं होता । एक जाति दूसरी जाति को नीची मानती है । चमार भँगी को नीचा मानता है भील चमारों को । भंगी भी धोबी और ढोली को अपने से नीचा मानता है । इन मेहनतकाश लोगों का समाज में कोई स्थान नहीं है, "समाज में जो हाथ से खाने-पहने की

चीज़ें पैदा नहीं करता, वह ऊँचा समझा जाता है जो हल चलाता है, जूते गाँठता है, कपड़े बुनता है वह नीच समझा जाता है ।"[1]

शोषक वर्ग ने स्वयं सृजित धार्मिक कुप्रथाओं एवं बाह्याडम्बरों की आड में दलित वर्ग का निरंकुश शोषण किया । उन्हें सभी मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया । परिणामत: दलित वर्ग का जीवन नरकीय बन गया । उच्चवर्ग के इस अनैतिक व्यवहारों एवं अत्याचारों को रोकने के लिए समय-समय पर उत्पन्न महान विभूतियों, संतों एवं समाज सुधारकों ने इसका सख्त विरोध किया । मध्यकाल के कबीर, नानक और रैदास ऐसे ही संत थे । आधुनिक काल में अनेक सुधारवादी संगठनों और समाज-सुधारकों के अथक प्रयत्न से दलित वर्ग की स्थिति में परिवर्तन अवश्य हुआ है । इसमें महात्मागाँधी और अंबेडकर का योगदान चिरस्मरणीय है ।

गाँधी और अंबेडकर

अंबेडकर ने अछूतोद्धार के लिए महान और क्रांतिकारी कार्य किया । अंबेडकर स्वयं दलित वर्ग के थे और दलित वर्ग पर होते अत्याचारों एवं शोषणों से भली भाँति परिचित भी । उन्होंने दलित वर्ग को अज्ञान के अन्धकार से, चातुर्वर्ण्य की जकड से तथा दरिद्रता की आग से मुक्ति दिलाने के लिए अपना जीवन समर्पित किया । इस संदर्भ में महात्मागाँधी, "हरिजन सेवक" पत्र के माध्यम से अपने

---

1. रामविलास शर्मा - निराला की साहित्य साधना - पृ.27

क्रांतिकारी विचार प्रकट करते रहे भी हैं । गाँधीजी अस्पृश्यता निवारण के लिए कितने प्रयत्नशील थे यह उनके "हरिजन सेवक" पत्र में प्रकाशित विचारो से ज्ञात होता है । उसमें गाँधीजी कहते हैं कि अगर सचमुच हिन्दु धर्म अस्पृश्यता का समर्थन करता है तो मुझे हिन्दु धर्म का त्याग करने में किसी प्रकार की हिचकिचाहट नहीं होगी ।

गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन तथा भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की गतिविधियों को असफल बनाने के लिए अंग्रेज़ सरकार ने दलितों को संरक्षण देने को जिस नीति को अपनाया था उसमें सामाजिक अलगाव की प्रवृत्ति को और बल दिया । इस बात को लेकर अंबेडकर और महात्मागाँधी में मतभेद हुए । डा. अंबेडकर अपनी इस बात पर पूरी तरह अडे रहे कि पशुओं से भी बदत्तर स्थिति में रहने के लिए हिन्दु रहने को बजाय दलितों को हिन्दुओं से पृथक दलित वर्ग के रूप में रहना बेहतर है ।

सन् 1931 की जनगणना के पहले असवर्ण व्यक्तियों के लिए दलित शब्द का ही प्रयोग किया जाता था । 1931 की जनगणना के समय फिर वह प्रश्न उठा जब उस समय के जनगणना अधीक्षक ने दलित शब्द की अपेक्षा "बाहरी जातियाँ" शब्द का प्रयोग किया । इस शब्द का प्रयोग इस दृष्टि से किया गया कि इन जातियों का भारतीय सामाजिक संरचना में कोई स्थान नहीं था अर्थात् उनकी सामाजिक प्रस्थिति जातीय संरचना के बाहर है । इस शब्द के

प्रयोग ने भारतीय समाज में एक राजनैतिक समस्या उत्पन्न कर दी । डा. अंबेडकर ने यह कहना उचित समझा कि इन जातियों को हिन्दुओं से कोई संबंध नहीं है क्योंकि ये हिन्दुओं की सामाजिक संरचना के अन्तर्गत नहीं आती अर्थात् ये हिन्दु नहीं है । इस बात को लेकर डा. अंबेडकर ने सन् 1931 में होनेवाली गोलमेज़ में यह माँग की कि इन जातियों को हिन्दु न होने के कारण पृथक निर्वाचन का अधिकार मिलना चाहिए तथा इनके लिए दलित वर्ग के स्थान पर अन्य शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए ।

1931 की गोलमेज़ कॉंग्रेस के बाद ब्रिटिश सरकार ने असवर्ण जातियों को हिन्दुओं से पृथक घोषित कर दिया, उन्हें पृथक निर्वाचन अधिकार देने की घोषणा कर दी । इसके विरोध में महात्मागाँधी ने आमरण अनशन किया । फलस्वरूप दलित वर्ग के लिए एक समझौता हुआ जो पुना पैकट के नाम से प्रसिद्ध है । इस समझौते के अनुसार दलित वर्ग को विशेष अधिकार दिए गए और उन्हें हिन्दुओं का ही एक अंग मान लिया गया । उस समय महात्मागाँधी ने इन असवर्णों के लिए "हरिजन" शब्द का प्रयोग किया । सन् 1935 के विधान में दलित वर्ग के लोगों को कुछ विशेष सुविधाएँ प्रदान करने हेतु एक अनुसूची तैयार की गई जिसके आधार पर वैधानिक दृष्टिकोण से इन जातियों के लिए "अनुसूचित जाति" शब्द का प्रयोग किया गया । उसके बाद समस्त सरकारी प्रयोगों में इन्हें अनुसूचित जाति के नाम से संबोधित किया जाता रहा है ।

गाँधी तथा अंबेडकर जैसे महान पुरुषों के साथ अन्य अनेक संस्थाओं ने भी दलित-उद्धार की दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य किया है । ब्रह्मसमाज, प्रार्थना समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाईटी आदि संस्थाओं का योगदान इस दृष्टि से उल्लेखनीय है । इन पिछडे वर्गों के उत्थान के लिए अन्य अनेक संस्थाओं ने भी समय-समय पर प्रयास किए हैं । डॉ. अंबेडकर के देखभाल में कार्यरत "अखिल भारतीय दलित संघ", "अखिल भारतीय दलित वर्ग फेडेरेशन", महात्मागाँधी के सहयोग से स्थापित "हरिजन सेवक संघ", और "भारतीय सेवक समाज", "भारतीय दलित जाति संघ", आर्य मातृ मण्डल सामाजिक सेवा समिति आदि संस्थाओं का कार्य इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है ।

दलित उद्धार और हिन्दी उपन्यास

यद्यपि अनेक समाज सुधारकों तथा संस्थाओं द्वारा दलित उद्धार संबंधी कार्य किये गए तथापि आज भी दलितों की स्थिति चिंताजनक है । दलित वर्ग आज भी धार्मिक, सांस्कृतिक और सामाजिक विधि विधानों की चक्की में पिस रहा है । उसका उत्पीडन और शोषण जारी है । इस वास्तविकता से पूर्णत: अवगत है हिन्दी के उपन्यासकार । अत: इनकी रचनाओं में दलित जीवन और उनके उद्धार संबंधी मानसिकता की अभिव्यक्ति द्रष्टव्य है । हिन्दी के प्रारंभ कालीन उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से सामाजिक कुरीतियों और धार्मिक संकीर्णताओं के विरुद्ध चल रहे आन्दोलन को सहयोग दिया था । प्रेमचन्द और उनके समकालीन रचनाकारों ने इस दृष्टि से उल्लेखनीय कार्य किया है । "प्रेमचन्द आधुनिक रचनाकारों में एक

मिसाल है उस जेहनियत की जो जाति, धर्म, वर्ण, वर्ग नस्ल, संप्रदाय से परे आदमी को केवल आदमियत के तकाजों के साथ ही पहचानती है, जिसके पास आदमीयत के अलावा आदमी की और कोई शिनाख्त नहीं है । उनकी सर्जना उनकी इस जेहनियत का प्रभावशाली साक्ष्य देती है ।"[1] वे हमेशा इन सामाजिक समस्याओं से गुज़रे हैं । प्रेमचन्द की समतावादी मानसिकता का विकास आगे के उपन्यासकारों में दिखाई देता है । इसका सद परिणाम है दलित जीवन पर आधारित हिन्दी उपन्यास साहित्य ।

समकालीन दलित यथार्थ - साठोत्तर हिन्दी उपन्यास

दलित जीवन पर लिखे गये उपन्यासों में साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों की अपनी अलग पहचान है क्योंकि वे दलित जीवन के समकालीन संदर्भों से गुज़र रहे हैं । बीसवीं शताब्दि के क्रमिक विकास में आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के कारण प्राचीन सामाजिक-संगठन नया रूप ले रहा था । इस काल में वर्णाश्रम व्यवस्था प्राय: जर्जर हो चुकी थी तथा वर्गीय आधार पर नवीन समाज व्यवस्था की रचना हो रही थी । पिछले युग के समाज सुधारक रूढिवादी समाज से संघर्ष करते हुए दिखाई देते हैं जिसका आधार वर्णाश्रम धर्म पर आधारित समाज व्यवस्था थी । इसलिए उस काल के उपन्यासकार भी इस दृष्टि से अपनी लेखनी चलाते हुए दिखाई देते हैं ।

---

1. शिवकुमार मिश्र - प्रेमचन्द विरासत का सवाल - पृ. 172

आगे के उपन्यासकार विशेषकर साठोत्तर हिन्दी उपन्यासकार विषमतामूलक पुरानी समाज व्यवस्था को एक समता मूलक सामाजिक व्यवस्था के द्वारा अपदस्त होते देखना चाहते हैं । दलित जीवन के प्रति उनका लगाव उनकी इस व्यापक मानवीय संवेदना का ही अंग है । इसलिए इन उपन्यासकारों ने प्रतिष्ठित दलित अनुसूचित जाति, जनजाति की मार्मिक कहानी के साथ साथ अन्य अनेक कारणों से दलित जीवन बितानेवाले याने जीवन जीने के लिए लड रहे सर्वहारे की वेदना को भी वाणी दी है । दलितों के जीवन चित्रण करते समय ये उपन्यासकार दलित जीवन के समस्त संदर्भों से गुज़रते हैं । उन तत्कालीन राजनीतिक धार्मिक, प्रशासनिक कुतंत्रों को प्रकाश में लाते हैं जिनसे बहुसंख्यक लोग उपेक्षित, पीडित एवं शोषित बन गए हैं । दलित जीवन के जिन पहलुओं पर साठोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों ने प्रकाश डाला है वह अत्यंत महत्वपूर्ण है ।

सत्ता द्वारा तिरस्कृत दलित

आज़ादी के बाद भी दलितों के जीवन में कोई कारगर प्रगति नहीं हुई । इसका कारण यह है कि इस को लक्ष्य करके किसी ने विशेष काम भी तो नहीं किया था । इसलिए वे आज भी अपने अस्तित्व के लिए लड रहे हैं । इनकी इस स्थिति के लिए एक हदतक सत्ता उत्तरदायी है । क्योंकि जन साधारण को अपने जीवन संकट से बचाने का दायित्व सत्ता पर निर्भर है । देश के नागरिक होने के नाते अन्य जनों के समान सुविधापूर्ण जीवन जीने का

अधिकार दलितों को भी है । संविधान में उसके लिए प्रावधान रखे गये हैं । फिर भी सत्ता उनकी समस्याओं को अनदेखा करती है । अर्थात् सत्ता दलितों के अधिकार को संवैधानिक संरक्षण देने में असमर्थ है । ऐसे संदर्भ में उन पर बाहरी शक्तियों का हमला स्वाभाविक ही है । दलित पर होनेवाले सामाजिक अत्याचार इसी की ओर संकेत करते हैं । वास्तव में उन्हें आश्रय लेने के लिए दूसरा कोई ठौर नहीं है । लेकिन तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ इस दर्दनाक वास्तविकता की ओर भी इशारा करती है कि सत्ता इनकी समस्याओं की ओर अनदेखा ही नहीं करती बल्कि प्राप्त सुविधाओं के बल पर उन पर अत्याचार भी करती है । इस अत्याचार से पीडित अनेक मानवों का चित्र, इनकी वेदनाओं की मार्मिक अभिव्यक्ति इन उपन्यासों में हुई है -"नहीं यहाँ कोई पुछनेवाला नहीं है कि हमारी पुलीस कब बदलेगी ? उसे संस्कार और दिशा कब मिलेगी ? वह कब तक आततायी दिमाग बनी रहेगी ? नहीं... । यह सब पुछने वाला यहाँ कोई नहीं है क्योंकि एक जहर है जो सारे देश को रगों में फैल चुका है और तमाम लोग मुर्दे हो चुके है - जिन्दा मुर्दे ।"[1]

समाज के प्रत्येक क्षेत्र में दलितों को तिरस्कार की वेदना को सहना पडता है । सत्ता के सभी रूप उनके साथ अमानवीय व्यवहार ही करते हैं । दफ्तर में, शिक्षा संस्था में, पुलीस स्टेशन में,

---

1. विश्वेश्वर - महापात्र - पृ. 52

खेत में हर कहीं वह अत्याचार का शिकार है । इसी कारण से वे कभी कभी सत्ता के विरोध में आवाज़ उठाने के लिए विवश हो जाते हैं । लेकिन अक्सर पराजित हो जाते हैं क्योंकि ऐसे संदर्भों में अन्य तमाम राक्षसी शक्तियाँ सत्ता का साथ देती हैं जो इस दलित के शोषण पर जी रही हैं । सत्ता की इस अमानवीय व्यवहार के कारण बहुसंख्यक दलित जन-साधारण के जीवन में अब तक कोई कारगर प्रगति नहीं हुई है । जिनपर इनकी रक्षा का दायित्व निर्भर है वे ही उन पर हमला कर रहे हैं । ऐसे संदर्भ में इस पीडित निम्नवर्ग की रक्षा एवं प्रगति संभव नहीं है । इस संकट की स्थिति दलित जीवन पर लिखे गये साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों के केन्द्र में है । इस दृष्टि से "यथा प्रस्तावित", "परिशिष्ट", "महापात्र", "महाभोज", "धरती धन न अपना", "सफेद मेमने", "पिंजरे में पन्ना", "छप्पर टोला", "मुरदाघर" आदि उपन्यास महत्वपूर्ण हैं ।

धार्मिक अत्याचारों से पीडित दलित

भारतीय समाज में धर्म का स्थान निर्विवाद का है । दलित जनता पर धार्मिक अत्याचार प्रमुख रूप से जाति व्यवस्था के रूप में हुआ है । धर्म के आगमन के साथ ही जाति व्यवस्था को भी उत्पत्ति हुई । दलितों के संदर्भ में यह जाति व्यवस्था अधिक घातक सिद्ध हुई । सवर्ण और अवर्ण यह भेदभाव जाति व्यवस्था का ही परिणाम है । इसमें सवर्ण ने अवर्ण को हमेशा के लिए अपने अधीन में रखना चाहा और उनके श्रम से लाभ उठाने का प्रयत्न किया ।

आज़ादी के पहले और बाद में एक ही तरह यह स्थिति जारी है । सवर्ण जाति के आधार पर अपने को बड़ा मानते हैं और निम्न जाति के लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं । सत्य है कि जाति पर आदमी का कोई अधिकार नहीं । अमुक जाति में जन्म होना आदमी के वश की बात नहीं है । याने उसका खोखलापन स्वयं सिद्ध है । गाँधी जैसे महान नेताओं ने जाति व्यवस्था के खोखलेपन को लोगों के सम्मुख रख दिया है । लेकिन उच्चवर्ग दलितों पर हमला करने के लिए आज भी इसका दुरुपयोग कर रहे हैं । इस की प्रतिक्रिया उपन्यासों में उपलब्ध है -"इन्हीं कंबख्तों के मारे दिन-रात अन्दर बन्द रहते हैं । बाहर निकलते तक नहीं । सिगडी भी बाहर जलाते तो ये इसी तरह चिल्लाते हैं । और नहीं तो पास-पडोस वाले ही निकलकर गाली-गुफ्तार करने लगते है । जैसे इनकी सिगडी बिना धुँए के जलती है । हमारी सिगडी से निकला धुँआ उन्हें अपवित्तर लगता है । जात के पवित्र ऐसी-ऐसी बकते है कि सुनी नहीं जाति । फिर भी ये पवित्तर के पवित्तर और हम नीच और अपवित्र दोनों । देह धरे का दण्ड है सो भोग रहे हैं । भागेंगे, नहीं भागेंगे । हम भागेंगे तो ये बच्चे हम से पहले भाग खड़े होंगे । जोते जी न तो कुएँ खली में गिरा जाय न जात बदलकर बेजात हुआ जाय ।"[1] जाति में नीच होने पर भी आदमी अच्छा होता है, उसका अपना गुण होता है । लेकिन समाज यह मानने को तैयार नहीं है । वह आज भी इस खोखलेपन के पीछे पड़े है, नहीं तो इसका दुरुपयोग जान-बूझकर कर रहा है । साठोत्तर हिन्दी उपन्यास में इस पर विस्तृत

---

1. गिरिराज किशोर - यथा प्रस्तावित - पृ. 37

चर्चा हुई है । इनमें "नाच्यो बहुत गोपाल", "एक टुकडा इतिहास", "मोतिया", "जल टूटता हुआ", "कब तक पुकारूँ", "जूनिया", "मकान दर मकान", "नयी बिसात" आदि उपन्यासों का उल्लेखनीय स्थान है ।

भ्रष्ट राजनीति के शिकार दलित

आज़ादी के बाद राजनीति में भी मूल्य विघटन होने लगा । इसका सबसे अधिक बुरा असर पडा दलित लोगों पर । जनसाधारण के अधिकारों की रक्षा हेतु राजनीति का उदय हुआ था । पर दलितों के संदर्भ में सबसे अधिक धोखा राजनीति ने ही दिया । क्योंकि वह उनके साथ देने का बहाना किया । लेकिन कभी भी साथ नहीं दिया ।

सत्तासीन राजनीति ने उनके अधिकारों को छीन लिया और अवसर मिलने पर उनपर अत्याचार किया । विपक्ष ने उनको अपने हाथ की कठपुतली बनायी और उन्हें दिशाहीन कर दिया । इसका मार्मिक चित्रण उपन्यासों में उपलब्ध है - "जग्गु हरिजन, जो बडे बडे नेताओं के झूठे भाषण मुँह में दबाकर हरिजन मंडली में फिरते थे, तिरंगा झण्डा उठाए, झोली लटकाए और उन भाषणों को अपने ढंग से उगलते थे और वे नेताओं के लिए वोट बटोर लेते हैं आज भी बटोरते हैं । वे ही जग्गु हरिजन आज भी गौडइत है, पत्तल ढोते है, गोबरहे की

रोटी खाते हैं और जिनकी औरतें आज भी मुरदार हंसिया लिए औरतों को बच्चा पैदा कराती फिरती है और जिनकी नयी नयी बहू आज मंजूरी करने पर ही मजबूर होती है और मालिकों के गाँव में जिनकी अस्मत आज भी उसी तरह खतरे में होती हैं, जो आज भी मंजूरे है, गाँवों के खेतों में या शहरों के कारखाने में ।"[1]

राजनीतिक क्षेत्र में दलितों की समस्याओं का दुरूपयोग ही होता है । राजनीति कभी सत्ता पर आने के लिए नहीं तो कभी अन्य दलों पर हमला करने के लिए एक हथियार के रूप में ही दलितों का उपयोग कर रही है । दलितों के जीवन संघर्ष से राजनीति लाभ उठाती है । यों अज्ञानी, शोषित दलित राजनीति की जाल में फँस कर अपने को खो देता है । कभी कभी वे इस षड्यंत्र से अवगत होता भी है, फिर भी कुछ कर पाने में असफल हो उठते हैं । इस जाति व्यवस्था की अमानवीयता का यथार्थ चित्रण इन उपन्यासों में उपलब्ध है । "महाभोज", "परिशिष्ट", "सबसे बडा छल", "जल टूटता हुआ", "धरती धन न अपना", "सीताराम नमस्कार", "पिंजरे में पन्ना" आदि उपन्यासों में यह समकालीन यथार्थ काफी बुलन्द है ।

आर्थिक संकट से त्रस्त दलित

अर्थाभाव के कारण मानवोचित जीवन जीने में असमर्थ जनसमुदाय है दलित वर्ग । इनके संबंध में जगदीश चन्द्र का कथन बिलकुल

---

1. रामदरश मिश्र - जल टूटता हुआ - पृ. 222

ठीक है - "मैं यह सब देखकर बहुत ही उद्विग्न होता था कि आर्थिक अभावों की चक्की में युग-युगान्तरों से पिस रहे हरिजन अब भी मध्यकालीन यातनाओं को भोग रहे हैं । जिस भूमि पर वे रहते हैं, जिस ज़मीन को वे जोतते हैं; यहाँ तक कि जिन छप्परों में वे रहते हैं, कुछ भी उनका नहीं है ।"[1]

इस आर्थिक दुरवस्था के कारण वे कोई भी काम करने को विवश है । जिन कामों को समाज के अन्य लोग हेय दृष्टि से देखते हैं वह करने में दलित लोग हिचकते नहीं । इसलिए समाज उनसे दूर रहना चाहता है । उनका यह काम वास्तव में समाज के संदर्भ में अनिवार्य है । समाज निर्माण में उनका भी योगदान महत्वपूर्ण है ।

उच्चवर्ग के या संपन्न वर्ग के अधीन में काम करने के कारण उनकी आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय है । क्योंकि उच्चवर्ग उनके मेहनत से लाभ उठाना ही चाहते हैं । इसलिए कठिन श्रम करने पर भी आवश्यक धन प्राप्त होते नहीं । अत: दलित को कभी कभी भूखा रहना पडता है तो कभी भूखा मरना पडता है । इसकी मार्मिक अभिव्यक्ति को इन उपन्यासकारों ने अपने कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया है ।

---

1. जगदीश चन्द्र - धरती धन न अपना - पृ. 8

दलित नारी

उपन्यास भारतीय साहित्य में पाश्चात्य संपर्क के कारण विकसित हुआ । इसके बावजूद प्राय: हिन्दी उपन्यास साहित्य की सोच और दिशा भारतीय रही । यही कारण है कि हिन्दी उपन्यासों में नारी को केन्द्रित करके उपन्यास रचने की प्रवृत्ति बहुत कम उपन्यासकारों ने की है । दलित नारी को केन्द्र में रखकर उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति तो और भी कम रही ।

साठ के पहले के उपन्यासकारों में प्रेमचन्द, "उग्र", उदयशंकर भट्ट, आचार्य चतुर्सेन आदि ने इस दृष्टि से उल्लेखनीय कार्य किया है । प्रेमचन्द ने अपने उपन्यास "गोदान" में सिलिया और मातादीन का घर बसाकर चमारों और ब्राह्मणों में रोटी-बेटी का संबंध स्थापित किया । उस परिस्थिति में वह महत्वपूर्ण थी । दलित नारी को अपने उपन्यास की प्रमुख नायिका बनाने, उसमें व्यवस्था से विद्रोह करने और क्रांति की भावना जागृत करने की दृष्टि से हिन्दी उपन्यासकारों में पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र" का नाम उल्लेखनीय है । जब समाज में दलित शोषण, छुआ-छूत, ऊँच-नीच, भेदभाव, सामन्ती दलन जैसे भयंकर रोग फैले हुए थे उस समय इस प्रकार कलम चलाने का साहस करना खतरे से खाली नहीं था । इससे यह स्पष्ट होता है साठ के पूर्व कतिपय उपन्यासकारों ने ही दलित नारी पर लिखने का साहस दिखाया है ।

आज के युग में भी दलित वर्ग और दलित नारी की स्थिति अच्छी नहीं है । आज़ादी के 50 वर्षों बाद और इक्कीसवीं सदी में प्रवेश करने के समय भी दलित नारी की स्थिति दयनीय ही है । उसे आज भी समाज में तीसरे दर्जे के नागरिक मानकर उसपर शोषण और उत्पीडन का व्यवहार किया जाता है । साठोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों में कुछ उपन्यासकारों ने दलित नारी की वेदना को अपने विषय के रूप में स्वीकार किया है । दलित नारी के शोषण, सामाजिक उत्पीडन तथा उसके उपेक्षित और तिरस्कृत जीवन ही इन उपन्यासों का आधार है -"अमृतलाल नागर का "नाच्यो बहुत गोपाल" और गोपाल उपाध्याय का उपन्यास "एक टुकडा इतिहास" इस दृष्टि से उल्लेखनीय है । 1979 में नागर ने अपने उपन्यास की रचना की । यद्यपि इस उपन्यास की नायिका निर्गुनिया ब्राह्मण थी किन्तु परिस्थितिवश वह समाज की सबसे निम्न माने जाने वाले भंगी समाज की नारी बन जाती है । दलित नारी को समाज में जो कुछ भी सहना पडता है इसका मार्मिक चित्रण इस में हुआ है -"मैं रोज़ मार खाती थी, भूखी रहती थी । भूखे रहने पर भी रात में मुझ औरत को अपने मरद को सुख भी देना पडता था । जिस सुख के लिए यह दिन देखा था वही सुख तब नरक के दण्ड सा भोग रही थी । मोहन भी ऐसा निर्दयी था कि न खाने को पूछे न पीने को, अपना सुख ले ले और सो जाए ।"[1]

इस उत्पीडन के प्रति विद्रोह करनेवाली नारी के रूप में चुनली को अपने उपन्यास "एक टुकडा इतिहास" में गोपाल उपाध्याय

---

1. अमृतलाल नागर - नाच्यौ बहुत गोपाल - पृ. 99

ने प्रस्तुत किया है । उपन्यास के माध्यम से लेखक ने नारी के क्रांतिकारी रूप को ही पाठकों के सामने रखा है । तत्कालीन सामाजिक संदर्भ में वह अत्यंत महत्वपूर्ण है । अन्य कुछ उपन्यासकारों ने भी संदर्भवश दलित नारी के जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है । इस प्रकार साठोत्तर उपन्यास ने दलित नारी को अपने विषय के रूप में स्वीकार किया वह सराहनीय है ।

दलितों की उभरती नई चेतना

शोषित निम्नवर्ग की स्थिति दिन-ब-दिन बिगडती जा रही है । सभी सामाजिक शक्तियों ने उन्हें धोखा दिया, मौके-बे मौके पर उनपर अत्याचार किया । अत्याचार से पीडित दलितों का साथ देनेवाला कोई नहीं रहा । इसलिए उन्हें अपने को ही अपने रक्षक के रूप में देखना पडा । इस नयी दृष्टि का परिणाम है उनमें उभरती नई चेतना । इस चेतना के कारण प्राप्त शिक्षा और सुविधा के बल पर शोषण पर आधारित सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ दलित खडा होता है । इस व्यवस्था के प्रति उनमें जिस विद्रोह की भावना है उसे उपन्यासकारों ने अत्यंत सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है - "यथा प्रस्तावित" के बालेसर का कथन इस संदर्भ में उल्लेखनीय है - "मैं यह अनुभव करता हूँ कि यदि गुण-दोष निर्णायक न होकर व्यक्तियों के स्वार्थ और स्वार्थों के परिपोषण की शर्तें निर्णायक होगी तो एक दिन यह स्थिति आयेगी कि लोग जीवन यापन के सामान्य नियमों को तिलांजली देकर जंगलों में प्रचलित अनियमों को अपनाने के लिए मज़बूर हो जायेंगे ।"[1]

---

1. गिरिराज किशोर - यथा प्रस्तावित - पृ. 70

इस अवस्था से मुक्ति की कामना उनमें उगना स्वाभाविक ही है । इस नई चेतना का विकास साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में दृष्टिगोचर है । ये सदियों से पीडित शोषण- व्यवस्था के शिकार दलित जनसाधारण नयी समाज व्यवस्था की स्थापना के इच्छुक है । उन्हें मालूम है कि यह शोषकों के खिलाफ संघर्ष किये बिना संभव नहीं है । इसलिए वे संघर्ष करने के लिए मज़बूर है, इसके लिए वे संगठित होते हैं । यह एक दर्दनाक स्थिति है कि कभी कभी इनके लोग ही दलितों के खिलाफ खडे होते है । यह अज्ञान के कारण है, यह इनकी पराजय का एक प्रमुख कारण है । फिर भी वे समता की नयी दुनिया की स्थापना के लिए संघर्षरत है । इस संघर्ष के विभिन्न पहलू साठोत्तर उपन्यासों में उपलब्ध है । इस दृष्टि से, "परिशिष्ट", "यथा प्रस्तावित", "धरती धन न अपना", "जल टूटता हुआ", "नाच्यौ बहुत गोपाल", "एक टुकडा इतिहास", "महाभोज", "कब तक पुकारूँ", "मकान दर मकान", "महापात्र", "सबसे बडा छल", "नयी बिसात" आदि उपन्यास उल्लेखनीय है ।

निष्कर्ष

दलितों का इतिहास बहुत प्राचीन है । जब से आदमी आदमी पर अपना अधिकार जमाने लगा और इन्सानियत खो बैठी तब से दलितों की समस्या शुरू हुई है । पर शुरू से लेकर अब तक के जीवन-संघर्ष में दलितों की हार होती रही । प्रत्येक काल के सुविधा संपन्न उच्चवर्ग ने उन्हें गुलाम बनाकर रखा और वे उनपर अत्याचार

भी करते रहे । भारत का इतिहास ही इसके लिए सही गवाह है । स्वातंत्र्योत्तर परिस्थिति में दलितों की समस्या अधिक गंभीर हो गयी । सभी सामाजिक शक्तियाँ उनके खिलाफ खडी हो गयी । दलितों ने इन शोषक शक्तियों को पहचान लिया और वे उन के खिलाफ विद्रोह करने के लिए तैयार भी हो गए । साठोत्तर उपन्यासकारों ने दलितों की इस बदलती मानसिकता को अभिव्यक्ति दी । उनकी इस विद्रोही मानसिकता को प्रज्वलित करने का कार्य किया । उन्होंने दलितों पर होते रहे राजनीतिक, धार्मिक, एवं आर्थिक हथखंडों का यथार्थ चित्र ही प्रस्तुत नहीं किया बल्कि उनमें आई हुई चेतना को भी तीव्र बनाया । दर असल ये उपन्यास दलित-जीवन यथार्थ का सही दस्तावेज़ है । या यों कहिए कि उनके समाज शास्त्र के पोल खोलनेवाली सशक्त रचनाएँ हैं ।

उपसंहार

दलित शब्द यद्यपि आधुनिक युग की देन है, तथापि दलित-जीवन यथार्थ अत्यंत प्राचीन है । आदिम समाज में मनुष्य अपने लिए भोजन बहुत कठिनाई से प्राप्त करता था । उस समय परिवार के हर सदस्य को अपना भोजन स्वयं जुटाना ही था । दिन भर जंगलों में भटक कर इतना ही भोजन जुटाया जा सकता था कि जिससे उसकी पेट भर जाए । अत: ऐसी अवस्था में शोषण की खास संभावनाएँ नहीं होती थीं । हालाँकि इस काल में भी ताकतवर दूसरों द्वारा अर्जित शिकार को हडप लेते थे । कालान्तर में जब व्यक्ति अपने श्रम से बहुतों के लिए आवश्यक अन्न पैदा करने लगा तो शोषण की संभावनाएँ भी विकसित होने लगी । शक्तिशाली व्यक्ति स्वयं श्रम किए बिना ही दूसरों के श्रम द्वारा उत्पन्न अन्न तथा मावेशियों को बलपूर्वक हडपने लगा । यहीं से शोषण का उपक्रम होता है और शोषित-दलितों की समस्या शुरू होती है । ये दलित आज भी थोडी भिन्नता के बावजूद अपने पुरखों का जैसा अभावग्रस्त उपेक्षित एवं शोषित स्थितियों का सामना कर रहे हैं ।

साहित्यिक, सहज ही अनदेखे पहलुओं से देखने वाले तथा उनको अपनी रचना के माध्यम से अनावृत करनेवाले होते हैं । जब उनकी दृष्टि इस अपमानवीय स्थिति पर पडी तब से दलित जीवन साहित्य का विषय बना । इसका असली मकसद मानव जाति के साथ हो रहे अन्याय, अत्याचार, शोषण आदि को समाज के सामने प्रस्तुत करना है। वह सामाजिक यथार्थ को इस प्रकार चित्रित करता है जिससे कुरूप, शोषक, सडी-गली परंपरा से ग्रस्त शक्तियों का पर्दाफाश हो और नयी सामाजिक व्यवस्था

को प्रस्तुत करने के संघर्ष में बल मिले । हमें मालूम है, दलितों की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय है । याने यह स्थिति किसी देश तक सीमित नहीं है । इसलिए दलितों की समस्या तथा उनके साहित्य का भी एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप है । इसी कारण संसार भर में दलित-जीवन संबंधी साहित्य का सृजन हुआ है, हो रहा है । प्रमाण के रूप में आफ्रीकी तथा लातिन अमेरिकी साहित्य हमारे सामने हैं जो दलितों की स्थिति और मुक्ति की मार्मिक और सशक्त अभिव्यक्ति ही हैं ।

आधुनिक भारतीय साहित्य के संदर्भ में भी दलित एक सशक्त समस्या ही है । बहुसंख्यक भारतीय निम्नवर्ग की मूक वेदना को इन साहित्यकारों ने वाणी प्रदान की है । इस दृष्टि से मराठी दलित साहित्यकारों का योगदान निर्विवाद का है । एक सामाजिक आन्दोलन की प्रतिक्रिया के रूप में यहाँ दलित साहित्य का जन्म हुआ है । इसके उदय और विकास में अंबेडकर, फुले जैसे विचारकों का योगदान महत्वपूर्ण है । इस साहित्यिक आन्दोलन से अनुप्राणित होकर अन्य भारतीय साहित्यों में भी दलित - जीवन पर चिंतन सशक्त हो गया है ।

हिन्दी साहित्य में "दलित साहित्य" संबंधी आन्दोलन की चर्चा उन्नीस सौ अस्सी के बाद हुई है । पर वह आन्दोलन उतना शक्तिशाली नहीं बन पाया लेकिन यहाँ दलित-जीवन की अभिव्यक्ति की परंपरा अत्यंत प्राचीन है । आदिकाल से ही हिन्दी साहित्य में यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है । हिन्दी साहित्य की

तमाम विधाओं ने अपने अपने ढंग से इस धधकते अंगारों को पाठकों की हथेली तक पहुँचाने का कार्य किया है । उपन्यास साहित्य में इसकी चर्चा काफी गहरी एवं विशाल है । प्रेमचन्द से लेकर आज तक के उपन्यासकारों ने दलित-जीवन-यथार्थ को अनावृत करने का कार्य किया है । उनकी लेखनी हमेशा दलित-जीवन-समस्याओं से पूर्णत: जुडी रही है । साठोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों ने सिर्फ दलित जीवन के सभी पहलुओं को उसकी पूरी यथार्थता के साथ प्रस्तुत किया ही नहीं वरन् इस अमानवीय हरकतों के विरुद्ध अपना सख्त विद्रोह भी प्रकट किया है । इसलिए इन उपन्यासों में समय समय पर सत्ता, धर्म, राजनीति आदि के खिलाफ विद्रोह का स्वर बुलन्द है ।

प्रत्येक नागरिक के जीवन में सत्ता का महत्वपूर्ण स्थान है । दलित जीवन का अब तक का इतिहास यह साबित करता है कि सत्ता हमेशा दलितों के विपक्ष में है । इसी कारण से परिष्कृत आधुनिक युग में भी इनके जीवन में कोई कारगर परिवर्तन नहीं दिखाई देता । सदियों से सत्ता द्वारा तिरस्कृत एवं प्रताडित वर्ग है दलित । सत्ता हमेशा उच्चवर्ग के साथ देते दिखाई देती है । स्वाधीनता पूर्व तथा परवर्ती स्थिति में भी इस दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है । वह हर कहीं उपेक्षित है तिरस्कृत एवं शोषित भी ।

स्वतंत्रता के बाद दलितों को विभिन्न जाति के तहत स्वीकार करके आरक्षण की सुविधाएँ प्रदान कीं । पर उनका बहुत सारा

भाग कागज़ों तक सीमित है । यह एक दर्दनाक सत्य है कि इस आरक्षण के दायरे के बाहर भी - बहुसंख्यक पीड़ित, शोषित निम्नवर्ग है जो अन्य अनेक कारणों से दलित बने हुए हैं । जिस सत्ता पर उनकी रक्षा का दायित्व निहित है वही उनकी समस्याओं की ओर नज़रन्दाज़ कर रही है । इतना ही नहीं वह शोषकों का साथ भी देती है । सत्ता किस हद तक दलित-जीवन-स्थिति के लिए जिम्मेदार है इसको देखने-परखने में साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों ने सफलता प्राप्त की है ।

मनुष्य को मनुष्य से अलग करनेवाले धार्मिक अतिचार के प्रति विद्रोह साठोत्तर हिन्दी उपन्यासों में हुआ है । भारतीय समाज के संदर्भ में धर्म का स्थान और महत्व निर्विवाद का है । भारतीय संकल्पना के अनुसार धर्म का लक्ष्य समाज का परित्राण है । लेकिन दलित-जीवन-यथार्थ इससे भिन्न सोचने के लिए हमें बाध्य कर देते हैं । क्योंकि धार्मिक अत्याचारों से पीड़ित अनेक जन साधारण हमारे समाज में हैं जो जातिवादी दृष्टि के शिकार हैं । अवर्ण-अछूत के नाम पर समाज उन्हें हेय मानता है । उनकी मानसिक पीड़ा साहित्य के संदर्भ में अभी तक अछूता पक्ष रहा है । लेकिन साठोत्तर हिन्दी उपन्यासकारों ने दलितों के अन्तर्मन में प्रविष्ठ होकर उनकी मानसिकता को पकड़ने और प्रकाश में लाने का जो प्रयास किया है, वह बिलकुल सराहनीय ही है ।

दलितों के संदर्भ में राजनीति का व्यवहार भी अन्य शोषक शक्तियों से भिन्न नहीं है । सत्ताकांक्षी राजनीतिक नेता दलित

जीवन बितानेवाले मनुष्य प्राणी के अधिकारों और आवश्यकताओं का दुरुपयोग ही करते हैं । इसी कारण से इनकी समस्याओं का भी कोई समाधान नहीं होता । हकीकत तो यह है, इन समस्याओं को बनाए रखने में ही राजनीति जीवित है । आज संपूर्ण समाज राजनीतिक भ्रष्टाचार के शिकंजे में फँसा हुआ है । दरअसल दलित ही इनके हमले से बुरी तरह घायल हैं । आज राजनीति उच्चवर्ग के हाथ की कठपुतली बन गयी है । अत: दलितों की आवाज़ कहीं अटक जाती है । इस राजनीतिक भ्रष्टाचार से त्रस्त दलितों का जीवन्त इतिहास है साठोत्तर हिन्दी उपन्यास ।

जाहिर है कि विभिन्न शक्तियों के प्रताडनों से आहत जीवन यथार्थ को जन सामान्य के सामने प्रस्तुत करने का सराहनीय कार्य साठोत्तर उपन्यासकारों ने किया है । इनके इस प्रयत्न के पीछे कुछ महान उद्देश्य अवश्य हैं । एक ओर वे इस जीवन-यथार्थ को संप्रेषित करके उन्हें अपनी हैसियत से परिचित कराना तथा उसके विरुद्ध आवाज़ उठाने के काबिल बनाना चाहते हैं तो दूसरी ओर दलितों को अपनी अस्मिता से सचेत करना भी । दलित जीवन पर लिखे उपन्यासकारों की यही कामना रही है कि भारतीय समाज अमानवीय तथा अन्यायपूर्ण परंपराओं, शोषण एवं उत्पीडन तंत्रों से मुक्त होकर एक स्वस्थ प्रजातांत्रिक राष्ट्र बने जहाँ मनुष्य को मनुष्य के रूप में जीने का अवसर मिले । गोया कि साठोत्तर हिन्दी उपन्यास में जिस दलित-जीवन यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है वह मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने, समझने और पहचानने का परिणाम है ।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

चर्चित उपन्यास

1. अमिता – यशपाल
विप्लव कार्यालय
लखनऊ
1956.

2. उदयास्त – आचार्य चतुर्सेन
राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली
1963.

3. एक टुकडा इतिहास – गोपाल उपाध्याय
सामयिक प्रकाशन
दरियागंज
दिल्ली
1975.

4. कर्मभूमि – प्रेमचन्द
सरस्वती प्रेस
बनारस
1932.

5. कब तक पुकारूँ – डॉ. रांगेय राघव
राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली
1971.

6. कुल्ली भाट – सूर्यकान्त त्रिपाठी "निराला"
गंगा पुस्तक माला
लखनऊ
1951.

7. गोदान - प्रेमचन्द
सरस्वती प्रेस
बनारस
1936.

8. गोली - आचार्य चतुर्सेन
राजहँस प्रकाशन
दिल्ली
1957.

9. चारु चन्द्रलेख - आचार्य हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली
1965.

10. छप्पर टोला - सतीश जमाली
सुमित्रा प्रकाशन
इलाहाबाद
1982.

11. जल टूटता हुआ - रामदरश मिश्र
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
दिल्ली - 6
1969.

12. जय यौधेय - राहुल सांकृत्यायन
किताबमहल
इलाहाबाद
1944.

13. जूनिया - गोविन्द वल्लभ पंत
गंगा पुस्तक कार्यालय
लखनऊ
1965.

14. झाँसी की रानी - वृन्दावनलाल वर्मा
मयूर प्रकाशन
झांसी
1946.

15. दिव्या - यशपाल
विप्लव कार्यालय
लखनऊ
1945.

16. धरती धन न अपना - जगदीश चन्द्र
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली
1972.

17. नाच्यौ बहुत गोपाल - अमृतलाल नागर
राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली - 6
1979.

18. परती परिकथा - फणीश्वरनाथ "रेणु"
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली
1961.

19. परिशिष्ट - गिरिराज किशोर
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
1984.

20. पिंजरे में पन्ना - मणि मधुकर
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली
1981.

21. प्रतिदान - रांगेय राघव
शब्दकार तुर्कमान
दिल्ली
1952.

22. बलचनमा - नागार्जुन
किताब महल
इलाहाबाद
1952.

23. बुधुआ की बेटी - पाण्डेय बेचन शर्मा "उग्र"
मिर्जापुर
1927.

24. भुवन विक्रम - वृन्दावनलाल वर्मा
मयूर प्रकाशन
झांसी
1957.

25. भूले बिसरे चित्र - भगवतीचरण वर्मा
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली - 6
1968.

26. महाभोज - मन्नू भण्डारी
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली
1979.

27. महापात्र - विश्वेश्वर
नवीन शाहदरा
दिल्ली - 32
1981.

28. मकान दर मकान - बाला दुबे
प्रभात प्रकाशन
दिल्ली
1981.

29. मैला आंचल - फणीश्वरनाथ "रेणु"
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली
1954.

30. मोतिया - रामकुमार "भ्रमर"
राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली
1979.

31. यथा प्रस्तावित - गिरिराज किशोर
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली
1982.

32. सत्ती मैया का चौरा - भैरवप्रसाद गुप्त
नीलाभ प्रकाशन
इलाहाबाद

33. सबसे बड़ा छल - मधुकर सिंह
राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली
1975.

34. समकालीन रचना और विचार - रमेश दवे
साहित्य संस्थान
भोपाल
1984.

35. सफेद मेमने - मणिमधुकर
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली
1971.

36. सागर लहरें और मनुष्य - उदयशंकर भट्ट
मसिजीवी प्रकाशन
नई दिल्ली
1955.

37. सिंह सेनापति - राहुल सांकृत्यायन
किताब महल
इलाहाबाद

38. सीताराम नमस्कार - मधुकर सिंह
राजपाल एण्ड सन्स
दिल्ली
1977.

39. मुर्दों का टीला - रांगेय राघव
किताब महल
इलाहाबाद

40. मुर्दाघर - जगदम्बाप्रसाद दीक्षित
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली
1990.

आलोचनात्मक ग्रंथ

41. अधूरे साक्षात्कार - नेमीचन्द्र जैन
अक्षर प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड
दिल्ली
1966.

42. अद्यतन हिन्दी उपन्यास - बिन्दु भट्ट
पार्श्व प्रकाशन
अहमदाबाद
1993.

43. अमृतलाल नागर के उपन्यास- डॉ. हेमराज कौशिक
प्रकाशन संस्थान
नई दिल्ली
1985.

44. आज का हिन्दी उपन्यास - इन्द्रनाथ मदान
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली
1966.

45. आज का हिन्दी साहित्य-- डा. रामदरश मिश्र
संवेदना और दृष्टि अभिनव प्रकाशन
दिल्ली
1975.

46. आठवें दशक के हिन्दी - डॉ. रामविनोद सिंह
उपन्यास अनुपम प्रकाशन
पटना
1980.

47. आधुनिकता और - इन्द्रनाथ मदान
सृजनात्मक साहित्य राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली
1978.

48. आधुनिक हिन्दी - डॉ. नवल किशोर
उपन्यास और मानवीय प्रकाशन संस्थान
अर्थवत्ता दिल्ली
1977.

49. आधुनिक हिन्दी उपन्यास - डॉ. विवेकी राॅय
- विविध आयाम अनिल प्रकाशन
इलाहाबाद
1990.

50. आधुनिकता और समकालीन- डॉ. नरेन्द्र मोहन
रचना संदर्भ आदर्श साहित्य प्रकाशन
वैरट सीलमपुर
दिल्ली - 31
1973.

51. आधुनिक सामाजिक - कृष्ण बिहारी मिश्र
आन्दोलन और आधुनिक आर्य बुक डिप्पो
हिन्दी साहित्य नई दिल्ली - 5
1972.

52. आधुनिक साहित्य - मूल्य - निर्मला जैन
और मूल्यांकन राजकमल प्रकाशन
दिल्ली
1993.

53. आधुनिक भारतीय - डॉ. शोभाशंकर
समाजवादी चिन्तन साहित्यभवन प्राइवेट लिमिटेड
इलाहाबाद
1980.

54. आधुनिक हिन्दी साहित्य - बच्चन सिंह
का इतिहास लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद
1986.

55. आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास – डॉ. श्रीकृष्ण लाल
हिन्दी परिषद प्रकाशन
इलाहाबाद
1965.

56. आस्था और सौंदर्य – रामविलास शर्मा
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली
1990.

57. आँचलिक उपन्यास – ज्ञानचन्द्र गुप्त
अभिनव प्रकाशन
दिल्ली
1975.

58. उपन्यास का पुनर्जन्म – परमानन्द श्रीवास्तव
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
1995.

59. उपन्यास की शर्त – जगदीश नारायण श्रीवास्तव
किताब घर
नई दिल्ली
1993.

60. उपन्यास का यथार्थ और रचनात्मक भाषा – डॉ. परमानन्द श्रीवास्तव
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली
1976.

61. उपन्यास स्थिति और गति - डॉ. चन्द्रकांत म. बांदिवडेकर
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली
1993.

62. गाँधी और अंबेडकर - गणेश मंत्री
प्रभात प्रकाशन
दिल्ली
1999.

63. दलित साहित्य रचना और विचार - डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी
अतिश प्रकाशन
दिल्ली
1997.

64. दलित साहित्य आन्दोलन - डॉ. चन्द्रकुमार वरठे
रचना प्रकाशन
जयपुर
1997.

65. दलितों के रूपान्तरण की प्रक्रिया - नरेन्द्र सिंह
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली
1993.

66. निराला की साहित्य साधना - डॉ. रामविलास शर्मा
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली
1972.

67. प्रेमचन्द के साहित्य सिद्धान्त - नरेन्द्र कोहली
अशोक प्रकाशन
दिल्ली
1966.

68. प्रेमचन्द चिन्तन और कला - डॉ. इन्द्रनाथ मदान
राजकमल प्रकाशन
दिल्ली
1961.

69. प्रेमचन्द साहित्यिक विवेचन - नन्ददुलारे वाजपेयी
अशोक प्रकाशन
दिल्ली
1965.

70. प्रगतिवादी हिन्दी उपन्यास - डॉ. बदरी प्रसाद
ओम प्रकाशन
दिल्ली
1987.

71. प्रेमचन्द साहित्य में दलित चेतना - डॉ. बलवन्द साधु जाधव
अलका प्रकाशन
कानपुर
1992.

72. प्रेमचन्द - विरासत का सवाल - शिवकुमार मिश्र
पीपुल्स लिटरेसी
दिल्ली - 6
1981.

73. प्रमुख आँचलिक उपन्यास संवेदनात्मक दृष्टि - डॉ. कैलाशनाथ पाण्डे
जयभारती पब्लिशिंग हाऊस
इलाहाबाद
1995.

74. महासमरोत्तर हिन्दी उपन्यासों में जीवन-दर्शन - कलावती प्रकाश
श्यामप्रकाशन
जयपुर - 3
1987.

75. शताब्दी के ढलते वर्षों में - निर्मल वर्मा
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
1995.

76. समकालीन हिन्दी उपन्यास- की भूमिका - डॉ. रणवीर रांगा
जगतराम एण्ड सन्स
दिल्ली
1986.

77. स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यासों में वैचारिकता - आशा मेहता
भारतीय ग्रन्थ निकेतन
नई दिल्ली
1988.

78. हिन्दी उपन्यास एक अंतर्यात्रा - रामदरश मिश्र
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली
1982.

79. हिन्दी उपन्यास युगचेतना और पाठकीय संवेदना – डॉ. मुकुन्द द्विवेदी
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद
1970.

80. हिन्दी उपन्यास यात्रा गाथा – शशिभूषण सिंहल
ऋषभचरण जैन एवं संतति
नई दिल्ली
1985.

81. हिन्दी कथा साहित्य और इतिहास – लक्ष्मीनारायण गर्ग
अभिनवभारती प्रकाशन
इलाहाबाद
1974.

82. हिन्दी उपन्यास अछूते संदर्भ – डॉ. रणवीर रांग्रा
साहित्य प्रकाशन
दिल्ली
1986.

83. हिन्दी उपन्यास उपलब्धियाँ – लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली
1970.

84. हिन्दी उपन्यास में प्रतीकात्मक शिल्प – सुशीला शर्मा
सिद्धराम पब्लिकेशन्स
दिल्ली

85. हिन्दी उपन्यास विवेचन - डॉ. सत्येन्द्र
कल्याण मण्डल एण्ड सन्स
जयपुर
1968.

86. हिन्दी उपन्यासों में दलित वर्ग - कुसुम मेघवाल
संधी प्रकाशन
जयपुर
1989.

87. हिन्दी उपन्यासों में दलित नारी - कुसुम मेघवाल
संधीप्रकाशन
जयपुर
1991.

88. हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना - डॉ. कुँवरपाल सिंह
पांडुलिपि प्रकाशन
दिल्ली
1976.

89. हिन्दी उपन्यासों में सामाजिक चेतना - डॉ. लालसाहब सिंह
नमन प्रकाशन
नई दिल्ली
1998.

90. हिन्दी उपन्यास सामाजिक चेतना - डॉ. रजनीकांत. एम. शाह
संस्कृति प्रकाशन
अहम्मदाबाद
1990.

91. हिन्दी साहित्य का इतिहास - डॉ. नगेन्द्र
नेशनल पब्लिशिंग हाऊस
नई दिल्ली

92. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास - रामस्वरूप चतुर्वेदी
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद
1986.

93. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डॉ. रामकुमार वर्मा
रामनारायण लाल
बेनीमाधव
प्रकाशन
इलाहाबाद
1971.

94. हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास - बच्चनसिंह
राधाकृष्ण प्रकाशन
दरियागंज
नई दिल्ली
1996.

अंग्रेज़ी ग्रन्थ

95. Dalits in India - James Massey
Manohar Publishers &
Distributers
New Delhi
1995.

96. Dalit visions - Gail Omvedt
Orient Longman Limited
Hyderabad
1995.

97. The Essence of Hinduism - M.K.Gandhi
Navajeevan Publishing House
Ahamedabad
1987.

98. Who were the Shudras - Dr.Ambedkar
Thacker and Company Ltd.
Bombay
1946.

पत्र-पत्रिकाएँ

1. आजकल - अप्रैल 1991
2. आमुख - अप्रैल 1995
3. ज्योत्सना - अक्तूबर 1998
4. ज्योत्सना - अप्रैल 1991
5. ज्योत्सना - नवंबर 1992
6. प्रकर - अप्रैल 1990
7. प्रकर - अप्रैल 1995
8. भाषा - दिसंबर 1989
9. भाषा - जनवरी 1992
10. मधुमति - अगस्त 1997

– सितंबर 1999

13. समकालीन भारतीय साहित्य– जून 1985.
14. समकालीन भारतीय साहित्य– जून 1998
15. संचेतना – दिसंबर 1982
16. संचेतना – जून 1998
17. साहित्य मंडल पत्रिका – जून 1995
18. साहित्य मंडल पत्रिका – अप्रैल 1998
19. हंस – जून 1999